नाट्य-समीक्षा

डा० दशरथ ओझा
एम० ए० (हि०, सं०) पी-एच० डी०
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, हिन्दू कालेज, दिल्ली

प्रकाशक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
६६, दरियागंज, दिल्ली

प्रथम संस्करण

मूल्य
पांच रुपए

मुद्रक श्री गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दरियागज, दिल्ली

प्राक्कथन

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त समूचे देश की सांस्कृतिक एकता की ओर साहित्यिकों का ध्यान पूर्व की अपेक्षा अधिक मनोयोग के साथ आकर्षित हुआ। अंग्रेजी राज्य में हम लोगों की दृष्टि प्रायः पश्चिम की नाट्यसमीक्षा-पद्धति की ओर रहती थी। पाश्चात्य नाट्यकला की चकाचौंध में हम अपने देश में शताब्दियों से प्रचलित नाट्य परम्पराओं को हेय मानकर उनकी उपेक्षा कर रहे थे। किन्तु अब दृष्टि बदल रही है। उत्तर और दक्षिण भारत के मध्य-स्थित पार्वत्य रूपी विन्ध्याचल को गांधी जी की लाठी ने अगस्त्य की तरह नीचे सुला दिया है। अब उत्तर और दक्षिण भारत की भाषा और संस्कृति का भेद-भाव मिटने जा रहा है। दक्षिण भारत के साहित्य का हम हिन्दी अनुवाद के द्वारा रसास्वादन करके तृप्त होने लगे हैं। किन्तु अभी तक उत्तर भारत की जनता दक्षिण भारत की यक्षगान पद्धति से पूर्ण परिचित नहीं हो पाई है। एक ही स्थल पर उत्तर और दक्षिण भारत की नाट्य परम्पराओं को प्रदर्शित करने का कदाचित् हिन्दी में यह प्रथम प्रयास है।

इस ग्रन्थ में समय-समय पर प्रकाशित कई उपयोगी लेखों को भी सम्मिलित कर लिया गया है। नाट्यकला का क्रमिक विकास दिखाते हुए रूपकों और उपरूपकों का लक्षण बताया गया है। उत्तर भारत की संस्कृत नाट्य परम्परा के साथ-साथ लोक-नाट्य शैली का भी विवेचन किया गया है। आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी नाटककार जयशंकर प्रसाद की रचनाओं की अभिनेयता पर भी प्रकाश डाला गया है।

नाटकों की समीक्षा अभिनय एवं पठन-पाठन दोनों दृष्टियों से की गई है। हमारे देश में रंगमंच का अभाव सबको कांटे की तरह खटक रहा है। केन्द्रीय मन्त्रालय इस दिशा में उद्योग कर रहा है कि प्रत्येक राज्य में नाट्यागार निर्मित हो जाएँ। इससे अभिनेय नाटकों का अवश्य विकास होगा किन्तु इतना होते हुए भी पाठ्य नाटकों का भी अपना महत्त्व है। साहित्य की [illegible] विभागों से [illegible]

पाठ्य नाटको की भी अपनी उपयोगिता है। इस दृष्टि से प्रेक्ष्य एव पाठ्य नाटको पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

मेरे कतिपय मित्रो का आग्रह था कि उत्तर भारत की नाट्य परम्परा के साथ समूचे दक्षिण भारत मे प्रचलित यक्षगान का परिचय देते हुए तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। इस कार्य मे मुझे अपने मित्र श्री रामकृष्ण भट्ट से इतनी अधिक सहायता मिली है कि मैं उनका सदा कृतज्ञ रहूँगा। श्री भट्ट संस्कृत और कन्नड के उद्भट विद्वान् होते हुए भी हिन्दी का विधिवत् ज्ञान संचित करते रहते हैं। यदि उन्हे हिन्दी का पूरा बोध न होता तो यक्षगान की समीक्षा सम्भव नही थी। अत हम उनका हृदय से आभार मानते हैं।

यक्षगान के सम्बन्ध मे हम दोनो ने इतनी सामग्री उपलब्ध कर ली है कि एक स्वतत्र पुस्तक प्रकाशित होने जा रही है। इस ग्रन्थ मे हमने केवल एक अश ही प्रकाशित कराया है। आशा है कि दक्षिण भारत मे प्रचलित अन्य नाट्य पद्धतिया भी द्वितीय पुस्तक मे सम्मिलित कर ली जायेंगी और इस प्रकार पुस्तक की उपादेयता बढ जायगी।

२, रामकिशोर रोड, दिल्ली —दशरथ ओझा
वैशाखी, २०१६

विषय-सूची

रूपक का स्वरूप

संस्कृत-साहित्य में रूपक शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में मिलता है। व्याकरण के अनुसार 'रूप्' धातु में ण्वुल प्रत्यय जोड़ने से रूपक की व्युत्पत्ति मानी जाती है। जिस प्रकार अलंकारों में रूपक का प्रसिद्ध स्थान निर्विवाद है, उसी प्रकार संगीत में भी रूपक ध्रुवताल के लिए प्रसिद्ध माना जाता है। वेङ्कटमखी का कथन है—

आदौ द्रुतौ लघुः पश्चात्ताले रूपकनामके।

अर्थात् प्रारम्भ में द्रुत तदुपरान्त ताल में लघु हो, वह रूपक नामक ध्रुवताल कहलाता है।

रूपक प्रबन्ध के सम्बन्ध में हरिपाल का कथन है—

रूपकाख्येन तालेन रागैर्गेयो मनोहरं।
उद्ग्राह ध्रुवकाभोगा इति रूपकलक्षणम्॥

रूपक नामक ताल से और मनोहर रागों से गेय ध्रुवक और आभोग (आलाप) का जिस प्रबन्ध में ग्रहण हो उसे रूपक प्रबन्ध कहते हैं।

रूपक का दूसरा प्रयोग कथाकाव्य के रूप में होता है। अंग्रेजी में जिसे 'एलेगरी' कहते हैं वही हिन्दी-साहित्य में रूपक काव्य के नाम से अभिहित है। जिस कथात्मक प्रबन्ध में प्रस्तुत कथा के भीतर कोई अप्रस्तुत कथा अन्तःसलिला सरस्वती के समान निरन्तर प्रवहमाण हो वह रूपक काव्य कहलाता है। रूपक अलंकार में उपमेय और उपमान का अभिन्नत्व दिखाया जाता है किन्तु रूपक काव्य में यह सम्बन्ध नहीं होता, वहाँ तो अन्तर्निहित एक दूसरा ही अर्थ अभिधा से भिन्न होकर शब्द की लक्षणा और व्यंजना शक्ति के आधार पर कहीं प्रकट और कहीं प्रच्छन्न रूप से पाठक के मन में भरता जाता है। यह अर्थ काव्य में ही नहीं, कथा-साहित्य और नाटक में भी कहीं-कहीं अपनी छटा छिटकाते हुए दिखाई पड़ता है।

आजकल हिन्दी में एलेगरी के लिए रूपक के अतिरिक्त प्रतीक, अन्योक्ति तथा उपमित कथा आदि शब्दों का भी प्रयोग होने लगा है जो कहीं-कहीं भ्रामक सिद्ध होता है। इसी कारण अब कुछ लोग 'एलेगरी' को 'रूपक' न कहकर

'अध्यवमित रूपक' कहने लगे हैं। प्रतीक और रूपक मे भी अन्तर है। प्रतीक मे प्रस्तुत अर्थात् वर्ण्यवस्तु नगण्य होती है, उसका अप्रस्तुत या प्रतीयमान अर्थ ही साध्य होता है। अन्योक्तियाँ प्राय प्रतीकात्मक ही होती हैं किन्तु 'एलेगरी' मे कभी-कभी अन्योक्ति नही, अपितु समासोक्ति होती है जिसमे प्रस्तुत और प्रतीयमान दोनो अर्थों का समान रूप मे महत्त्व होता है। अत अग्रेजी के 'एलेगरी' शब्द मे जो व्यापकता है वह हिन्दी के रूपक, प्रतीक, अन्योक्ति या उपमित कथा, इन शब्दो मे नही है। ये शब्द अलग-अलग और सीमित अर्थ के द्योतक हैं। "अध्यवसित रूपक से कथात्मकता का बोध नही होता, अत वह भी पूर्ण अर्थ व्यक्त नही करता। अतएव एलेगरी के लिए हिन्दी में 'रूपक कथा' ही सबसे अधिक उपयुक्त शब्द है।"[1]

हिन्दी और सस्कृत साहित्य मे रूपक-कथा के विभिन्न भेद देखे जाते हैं। सबसे प्रसिद्ध वह रूपक-कथा मानी जाती है जिसमे भावनाओ, विचारो एव अशरीरी तत्त्वो को सशरीरी (मानव) के रूप मे अभिव्यक्त किया जाता है। कहीं-कही कतिपय पात्र तो अशरीरी तत्त्व के द्योतक होते हैं, किन्तु कही अशरीरी तत्त्व और मानव पात्र दोनो दिखाई पडते हैं। 'प्रबोध चन्द्रोदय', 'मोहराजपराजय' प्रथम कोटि मे हैं और 'ज्योत्स्ना' द्वितीय वर्ग मे।

रूपक-कथा के दूसरे प्रकार मे पात्रो का नामकरण मानवीय नही होता अपितु ये प्रतीकात्मक होते हैं। प्रथम कोटि मे विचारो और भावनाओ का जब मानवीयकरण किया जाता है तो उसमे प्रस्तुत अर्थ और प्रतीयमान अर्थ समान होते हैं, जैसे 'प्रबोध चन्द्रोदय' मे मन की वृत्तियाँ पात्र के रूप में आई हैं, उनका अभिधार्थ और प्रतीयमान अर्थ प्राय एक ही है। 'ज्योत्स्ना' नाटक मे ज्योत्स्ना, सुरभि, कल्पना, उपा, इन्दु, पवन, स्वप्न, अरुण आदि भौतिक तत्त्व एव पदार्थ मानवपात्र के रूप मे आए हैं और साथ-ही-साथ जार्ज, वेदव्रत, हेनरी, सुलेमान, मेरियस, नीलरत्न, रहमान, सतीश आदि मानव-पात्र भी दिखाई पडते हैं। 'छलना' नाटक मे पुरुष पात्र हैं—बलराज, विलास-चन्द्र, नवीनचन्द्र, सूरे, जगेश्वर—जिनमे विलासचद्र और नवीनचन्द्र नाम से विलासिता और नवीनता के प्रतीक रूप मे इन पात्रों का भान हो जाता है। किन्तु जगेश्वर भिक्षुक रूप मे दिखाई पडता है जिसका कोई प्रतीकात्मक अर्थ नहीं बैठता। इसी प्रकार स्त्री पात्रो मे कल्पना, कामना और निद्रा अशरीरी तत्त्व के प्रतीक रूप मे दिखाई पडते हैं, किन्तु चम्पी एक लँगडी भिखारिन है जो किसी का प्रतीक नही हो सकती। इस प्रकार स्त्री पात्रो मे कल्पना रसिक वृत्तियो का

[1] हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ६९०।

और कामना नामक जिन वृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं, किन्तु चम्पी को नाट्यकार ने तमोभिभूत सात्विक प्रकृति का प्रतीक माना है जो शब्द के अर्थ से किसी प्रकार स्पष्ट नहीं होता।[1]

प्रमाण के लिए देखिए—कल्पना की बगल में चम्पी है, भीख मांगती है, अपने अंधे और कोढ़ी साथियों के साथ सड़क के किनारे पड़ी रहती है। पति ने उसे निकाल दिया था, फिर भी वह सुखी है, सन्तुष्ट है, क्योंकि उसके जीवन में एक लक्ष्य है, एक व्रत है, एक साधना है। आधुनिक शिक्षा ने उसे वैयक्तिक स्वाधीनता का पक्षपाती नहीं बनाया—स्त्री-स्वातन्त्र्य का नाम भी उसे नहीं मालूम—रुपये-पैसे की भरपूर आमदनी नहीं होती, सुख-विलास की कोई कल्पना भी उसके निकट नहीं है, फिर भी वह सन्तुष्ट है, क्योंकि न तो उसका जीवन कर्महीन और एकाकी है और न लक्ष्यहीन और उच्छृंखल।

चम्पी के अभिधार्थ एवं लक्षणार्थ अथवा प्रतीकार्थ किसी से भी उक्त भाव की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः इसे 'ज्योत्स्ना' की कोटि में ही रखा जा सकता है। 'कामना' में 'प्रबोध चन्द्रोदय' के समान सन्तोष, विनोद, विलास, विवेक, शान्ति, दम्भ, दुर्वृत्त आदि सभी प्रमुख पात्र विचार एवं भावना के प्रतीक-रूप में दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार यह नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' की कोटि में आता है। इन नाटकों के पात्र ही नहीं अधिकांश घटनाएँ भी सांकेतिक हैं और प्रतीक नाटक के रहस्य के उद्घाटन में सहायता पहुँचाती हैं।

रूपक-नाटकों के तीसरे प्रकार में मानवेतर प्राणियों को, साथ-ही-साथ अभिधार्थ में चरित्रगत विशेषता को प्रकट करने वाले मानव को पात्र के रूप में लाया जाता है। जैसे 'एक घूंट' नाटक में कुंज, रसाल, वनलता, मुकुल, प्रेमलता, आनन्द व प्रकृति के पदार्थ एवं मनोवृत्तियों का मानवीयकरण किया गया है तो झाड़वाला अपने नाम से ही अपने चरित्र का बोधक प्रतीत होता है।

रूपक काव्य का चौथा प्रकार और है। इस कोटि की रूपक-रचनाओं में पात्र तो वास्तविक मानव होते हैं और घटनाएँ मानव-स्वभाव-सुलभ होती हैं, किन्तु इन घटनाओं के मध्य एक गूढ़ अर्थ निहित होता है। सम्पूर्ण कथा सामान्य अर्थ के साथ किसी गूढ़ अर्थ व्यक्त करती है जो किसी जीवन-दर्शन की व्याख्या करता हुआ दिखाई पड़ता है। वेबर ने 'वाल्मीकि रामायण' को इसी प्रकार रूपक काव्य की कोटि में परिगणित किया है और आधुनिक काल में 'कामायनी' को भी विद्वान् इस प्रकार रूपक मानते हैं।

1. कामना, प्राक्कथन, पृ० ११।

रूपक का तीसरा अर्थ है—

'रूपारोपात्तु—रूपकम्'

अर्थात् रगमच पर किसी पात्र मे राम या सीता का आरोप करके जो अभिनय दिखाया जाता है, उस समस्त प्रक्रिया को रूपक की सज्ञा दी जाती है।

विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने युग के अनुरूप रूपक की परिभाषाएँ दी हैं, अत कई दृष्टियो से रूपक का स्वरूप देखा जा सकता है।

'भरत कोश' मे रूपक का विवेचन इस प्रकार मिलता है—

रूपक द्विविध नाट्यरूपेण नृत्तगीतरूपेणेति। नाट्यरूपक पूर्वराजचरित, अथवोत्पाद्यकथा। नटैर्यत्प्रदर्श्यते तन्नाट्यम्। तत्र नृत्तगीताना प्रवेशो नास्ति। यत्र नृत्तगीताना समन्वयस्तन्नृत्तरूपकमित्युच्यते। यथा—डोम्बीप्रभृतीनि। नाट्यरूपकाणि दशैव भरतेन गृहीतानि। तेषु नाटकप्रकरणे प्रधाने। तच्छेषाण्यष्टौ रूपकाणीति भरताभिप्राय। महेन्द्रविक्रमेण भगवदज्जुकाप्रहसने सूत्रधारमुखेन "प्रकरणनाटकोद्भवासुपारेहामृगडिमसमवकारव्यायोगभाणसल्लापवीथ्युत्सृष्टिकाङ्कप्रहसनादिषु दशजातिषु नाट्यरसेषु हास्यमेव प्रधानमिति प्रहसनमेव प्रयोक्ष्यामि" इत्युक्तम्।

नाट्य रूप और नृत्त गीत रूप से रूपक दो प्रकार का होता है। नाट्यरूपक मे इतिहास-पुराण-प्रसिद्ध राजा का चरित होता है अथवा कोई कवि-कल्पित कथा होती है।

नाट्य-नटो द्वारा जो प्रदर्शित किया जाता है उसे नाट्य कहते हैं। उसमे नृत्त गीत का प्रवेश नही होता। जिसमे नृत्त और गीतो का समावेश हो उसे नृत्त रूपक कहते हैं, जैसे डोम्बी इत्यादि। भरत ने नाट्य रूपक को दस प्रकार का माना है, उनमे नाटक और प्रकरण मुख्य हैं। शेष आठ भी रूपक ही हैं, ऐसा भरत मुनि का अभिप्राय है।

महेन्द्र विक्रम ने भगवदज्जुका प्रहसन मे सूत्रधार के मुख से ऐसा कहलाया है कि "प्रकरण और नाटक मे उत्पन्न पारेहामृग, डिम, समवकार, व्यायोग, भाण, सल्लाप, वीथी, उत्सृष्टाक, प्रहसन आदि दस विधि नाट्यरसो मे हास्य की ही प्रधानता है। अत मैं प्रहसन का ही प्रयोग करूँगा।"

तन्मते नाटकप्रकरणाभ्या द्वादशरूपकाणि भवन्ति। तेषु भरतेनानुक्ते सल्लापकोल्लोप्यके गृह्यते। कोहलादयस्तु सल्लापकोल्लोप्यकरूपके नृत्तजातिष्वन्तर्भावयन्ति। विष्णुधर्मोत्तरे प्रकरणनाटकोद्भवानि दशरूपकाणीति ताभ्या सह द्वादशोक्तानि। रूपकाणि भरतमते दश। यथा—

नाटकं सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च ।
भाणस्समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिमः ।
ईहामृगश्च विज्ञेयो दशमो नाट्यलक्षणे ॥

महेन्द्रविक्रम के मत में नाटक और प्रकरण सहित रूपक बारह प्रकार के होते हैं। इनमें भरत मुनि से अवर्णित सल्लापक और उल्लोप्यक दो और भेद भी ग्रहण किये गए हैं। आचार्य कोहल आदि तो सल्लापक और उल्लोप्यक रूपक को नृत्त जाति में अन्तर्भावित करते हैं। विष्णुत्रात के अनुसार प्रकरण और नाटक से उत्पन्न दस रूपक सल्लापक और उल्लोप्यक के सहित बारह प्रकार के हो जाते हैं। भरत मुनि के मत से रूपक दस प्रकार के होते हैं—नाटक, प्रकरण, अङ्क, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग।

हरिपालमतम्—

ज्ञानावतरणं पूर्वं द्वितीयं नाटकं भवेत् ।
तृतीयं तु प्रकरणमङ्को व्यायोग एव च ॥
भाणस्समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिमः ।
ईहामृगं स्यात्सट्टकमेतावद्भिर्निरूपिता ॥

इति द्वादशोक्तानि । भगवदज्जुकादिप्रधानावयवेन वार इति कश्चिद्रूपकविशेषोऽस्तीति ज्ञायते । भगवदज्जुकादर्शेषु वार इत्यपि शब्दो दृश्यते । वारो वा चारो वेत्यत्रापि संशयः । नृत्तवार नाट्यवार नाट्यचार नृत्तचार इति वारशब्दस्य चत्वारो रूपभेदा नाट्यशास्त्रव्याख्यानादर्शेषु दृश्यन्ते । नृत्तवारो रूपकविशेषः । तस्मिन्नङ्कमध्ये नाटकान्तरं पुनस्तस्मिन्नाटकान्तरे नाटकान्तरं इति क्रमेण बहूनि नाटकान्यनवस्थाभावात् दृश्यन्त इति नाट्यायितशब्दव्याख्यानेऽभिनवगुप्तप्रोक्तवचनादवगम्यते । तेनैवोक्तं नाट्यायितं एवं स्वप्ने स्वप्नान्तरवदिति । उदाहृतं च सुबन्धुकृतनाटकवासवदत्तादेः प्रघट्टकम् । तत्र बिन्दुसारः तस्य सचिवाः रङ्गं प्रविशन्ति । उदयनवासवदत्ताचेष्टितं बिन्दुसारो नाटयति । मध्ये उदयनश्च बिन्दुसाराख्यां नाटयति । तदनन्तरं उदयनश्च पद्मावती प्रद्योतचरितानि नाटयति इत्यनवस्थो दृश्यते । सुबन्धोः प्रघट्टके न कोऽपि नृत्तवारः दृश्यते श्रूयते वा तत्कालीनकं रूपकमस्तीति महेन्द्रविक्रमवचनाद् ज्ञायते ।

हरिपाल के मत में १ ज्ञानावतरण, २ नाटक, ३ प्रकरण, ४ अङ्क, ५ व्यायोग, ६ भाण, ७ समवकार, ८ वीथी, ९ प्रहसन, १० डिम, ११ ईहामृग और १२ सट्टक नामक बारह रूपक के भेद हैं।

'भगवदज्जुका' नामक प्रहसन मे सूत्रधार ने पारेहामृग का उल्लेख किया है जो 'पार' और 'ईहामृग' नामक दो भेदो का परिचायक जान पडता है। 'भगवदज्जुकादर्श' मे 'वार' शब्द भी पाठान्तर मे मिलता है। अब तक यह सशय बना है कि वह शब्द 'वार' है अथवा 'पार'। नाट्यशास्त्र की व्याख्याओ मे 'नत्तपार', 'नाट्यपार', 'नाट्यवार', 'नृत्तसार' आदि पार शब्द के अनेक रूप-भेद दिखाई पडते हैं। नृत्तपार रूपक विशेष है। नृत्तपार नामक रूपक के अङ्क के मध्य मे नाटकान्तर के अन्तर्गत नाटकान्तर तदनन्तर नाटकान्तर भाव दिखाई देते है। इस प्रकार अभिनव गुप्त द्वारा की हुई 'नाट्यायित' शब्द की व्याख्या समझनी चाहिए। उन्होंने ही कहा है कि जिस प्रकार एक स्वप्न के अन्तर्गत दूसरा स्वप्न दिखाई पडने लगता है, उसी प्रकार एक नाटक के अन्तर्गत नाटकान्तर का समावेश होता है। सुबन्धु-कृत 'नाट्यपाराख्य' नामक ग्रन्थ से एक प्रघट्टक का उदाहरण दिया गया है। वहाँ बिन्दुसार और उनके मन्त्री अङ्क मे प्रवेश करते है। उदयन और वासवदत्ता की चेष्टाओ का बिन्दुसार अभिनय करता है और मध्य मे उदयन भी बिन्दुसार की कथा का अभिनय करता है। तदनन्तर उदयन भी पद्मावली और प्रद्योत के चरित का अभिनय करता है, इस प्रकार अन्तरक्रम दिखाई पडता है।

महेन्द्रविक्रम के वचन से यह ज्ञात होता है कि सुबन्धु के उक्त ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्यत्र कही भी 'नृत्तसार' अथवा तज्जातीयक रूपक न तो कही देखा जाता है और न ही कही सुना जाता है।

रामाद्यारोपणान्नेतु स्यादस्मिन्रूपकाभिधा।

जगमल्ल के मतानुसार नट का राम आदि के रूप का आरोप करना रूपक कहलाता है।

रूपक के दस प्रकार

(१) नाटक

पाणिनि नाट्य की उत्पत्ति 'नट्' धातु से मानते हैं[1] और रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'नाट्यदर्पण' में इसका उद्भव 'नाट्' धातु से माना है। वेबर और मोनियर विलियम्स का मत है कि 'नट्' धातु 'नृत्' धातु का प्राकृत रूप है। मांकण्ड का मत है कि 'नृत्' धातु बहुत प्राचीन है और 'नट्' का प्रचलन अपेक्षाकृत कम पुराना है। किसी-किसी का मत है कि 'नट्' और 'नृत्' दोनों धातुएँ ऋग्वेद-काल से प्रचलित है। दोनों का प्रयोग स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष रूप में होता आया है। सायण ने अपने भाष्य में 'नट्' का अर्थ 'व्याप्नोति' किया है[2] और 'नृत्' का गात्र-विक्षेपण।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि वेदोत्तरकाल में दोनों धातुएँ समानार्थक होती गईं, किन्तु कालान्तर में 'नट्' धातु का अर्थ अधिक व्यापक बन गया और 'नृत्' के अर्थ के साथ-साथ अभिनय का अर्थ इसमें सिमटता चला गया। 'सिद्धान्त कौमुदी' के तिङन्त प्रकरण में नाट्य की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'नट् नृतौ। इत्ययमेवपूर्वमपि पठितम्। तत्रागविक्षेप। पूर्वपठितस्य नाट्यमर्थ। यत्कारिष नटव्यपदेश।' इससे यह निष्कर्ष निकला कि 'नट्' धातु का अर्थ गात्रविक्षेपण एवं अभिनय दोनों ही था, किन्तु कालान्तर में 'नृत्' धातु का प्रयोग गात्र-विक्षेपण के अर्थ में होने लगा और 'नट्' का प्रयोग अभिनय के अर्थ में। दशरूपककार ने नृत्त, नृत्य और नाट्य का अन्तर स्पष्ट किया है। नृत्त तालनय के आश्रित होता है, नृत्य भावाश्रित होता है, किन्तु नाट्य रसाश्रित होता है। 'अन्यद्भावाश्रय नृत्यम्, नृत्त ताललयाश्रयम्। मयम्पानुकृतिर्नाट्यम्, रसार्थेव रसाश्रयम्।'[4] इस प्रकार सम्भवित्ता से विचार करने पर नृत्त और नृत्य नाट्य की ही दो प्रथम भूमिकाएँ प्रतीत होती हैं।

१. पाणिनि ४।३।१२८ [illegible]।
२. भाष्य ४।१८८।१३ [illegible]।
३. ऋग्वेद [illegible]।
४. दशरूपक, पृ० [illegible]।

रूपक और नाटक दोनो शब्द पर्यायवाची होते हुए भी सूक्ष्म अन्तर वाले प्रतीत होते हैं। नाट्य मे अवस्थाओ की अनुकृति को प्रधानता दी जाती है, किन्तु रूपक मे अवस्थाओ की अनुकृति के साथ-साथ रूप का आरोप भी आवश्यक है, अर्थात् अवस्था की अनुकृति और रूपानुकृति का मिश्रित रूप रूपक कहलाने का अधिकारी बनता है।

संस्कृत-साहित्य मे नाटक को भी प्रधानत काव्य ही माना गया है। दोनो का मुख्य उद्देश्य आनन्दप्राप्ति बताया जाता है। दोनो का गौण उद्देश्य—उपदेश एव व्युत्पत्ति भी—विधि-निषेध के रूप मे समान रीति से पाया जाता है—केवल उद्देश्य-प्राप्ति के साधन मे भेद है—'सामान्येन उभयमपि च तत् शास्त्रवद् विधि-निषेधविषयव्युत्पत्ति फलम्। केवल व्युत्पाद्य जनजाड्याजाड्यतारतम्यापेक्षया काव्यनाट्यशास्त्ररूपोऽयम् उपायमात्रभेद, न फल भेद।'[1]

महिमभट्ट का मत है कि अनुभाव-विभावादि के वर्णन से जब आनन्दोपलब्धि होती है तो रचना काव्य कहलाती है और जब गीतादि से रंजित नटो द्वारा उसका प्रयोग दिखाया जाता है तो वह नाटक बन जाता है—'अनुभावविभावाना वर्णना काव्यमुच्यते। तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्य गीतादिरंजितम्।'[2]

सागरनन्दी नामक आचार्य ने त्रैलोक्य के स्थान पर केवल इसी लोक के सुख-दुख पर बल दिया है। उनका कथन है कि इसी लोक के सुख-दुख मे उत्पन्न अवस्था के अभिनय का नाम नाट्य है—'अवस्था या तु लोकस्य सुख-दुखसमुद्भवा। तस्यास्त्वभिनय प्राज्ञै नाट्यमित्यभिधीयते।' सागरनन्दी की यह व्याख्या भरतमुनि के एक दूसरे श्लोक पर आधारित प्रतीत होती है। भरत मुनि कहते है—'यो य स्वभावो लोकस्य सुखदुखसमन्वित.। सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते।' भरतमुनि के मत की विस्तृत व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं—'प्रत्यक्षकल्पानुव्यवसायविषयो लोकप्रसिद्ध-सत्यासत्यादिविलक्षणत्वात् यच्छब्दवाच्यो लोकस्य सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्यमानश्चर्व्यमाणोऽर्थोनाट्यम्।' अर्थात् नाटक वह दृश्य काव्य है जो प्रत्यक्ष, कल्पना एव अध्यवसाय का विषय बन सत्य एव असत्य से समन्वित विलक्षण रूप धारण करके सर्वसाधारण को आनन्दोपलब्धि कराता है।

भरतमुनि नाटक की कथावस्तु के विषय मे अपना मत स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि देवता, मनुष्य, राजा एव महात्माओ के पूर्ववृत्त की अनुकृति को

१ व्यक्ति विवेक अ० १. पृ० २०।
२ व्यक्ति विवेक अ० १ पृ० २०।

नाटक कहते हैं—'देवतानां मनुष्याणां राज्ञां लोकमहात्मनाम्। पूर्ववृत्तानुचरितं नाटकं नाम तद्भवेत्।' आचार्यों ने इस लक्षण पर यह शंका उठाई कि प्रख्यात राजा अथवा ऋषि का वृत्त लेकर ही नाटक की रचना होती है, तो 'प्रबोध चन्द्रोदय' आदि उन नाटकों को, जिनमें गुण-दोष, श्रद्धा-मोह, विरक्ति, काम, धर्म, विद्या-अविद्या, चैतन्य आदि पदार्थ पात्र बनकर आते हैं, नाटक की संज्ञा किस प्रकार दी जा सकती है ?

आचार्यों ने इस शंका का समाधान करते हुए नाटकों का एक और विभाग गौण नाटक नाम से किया है। उन्होंने अश्वघोषकृत 'राजपुत्री' को जिसमें बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को पात्र बनाकर बुद्ध का गुणगान किया गया है तथा जयन्तकृत 'आगमडम्बर' को जिसमें बौद्ध क्षपणक, कापालिक, नीलाम्बर, चार्वाक, मीमांसक एवं तार्किक आचार्य पात्ररूप में उपस्थित होकर अपने-अपने मत एवं आचार की प्रशंसा करते हैं, गौण नाटक की कोटि में रखा है। इसी प्रकार 'मोहपराजय', 'सकलसूर्योदय', 'पूर्णपुरुषार्थचन्द्रोदय' 'चैतन्यचन्द्रोदय' आदि को भी गौण नाटक माना है।

सुबन्धु ने नाटक का पाँच प्रकार से वर्गीकरण किया है और प्रत्येक वर्ग के साथ-साथ नाटक की जाति का नाम भी दे दिया है। शारदातनय ने सुबन्धु का मत देते हुए लिखा है कि उन्होंने नाटक की पाँच जातियाँ—पूर्ण, प्रशान्त, भास्वर, ललित एवं समग्र—निश्चित की हैं। उन्होंने यह भी बताया है कि प्रत्येक जाति में उपक्षेप, परिकर, परिन्यास एवं विलोभन नामक अंगों का होना समान रूप से पाया जाता है—'सुबन्धुर्नाटकस्यापि लक्षणं प्राह पंचधा। पूर्णंचैव प्रशान्तं च भास्वरं ललितं तथा॥ समग्रमिति विज्ञेया नाटके पंच जातयः। उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो, विलोभनम्। एतान्यङ्गानि कार्याणि सर्वनाटकजातिषु॥' भरतमुनि के कथनानुसार पाँच सन्धियों, चार वृत्तियों, चौंसठ अंगों, छत्तीस लक्षणों सहित नाट्यालंकारों से सुशोभित, प्रचुर रस, उत्कृष्ट भावों से समन्वित, चमत्कारपूर्ण रचना से युक्त, महापुरुषों के व्यापार से सम्पन्न, अनिन्दित आचरण सन्निविष्ट, सन्धियों से सुश्लिष्ट, प्रयोग में रमणीय, सुख का आश्रय, मृदुल शब्दों से समन्वित रचना करनी चाहिए। ऐसी ही रचना नाटक नाम से अभिहित होती है—

'पंच सन्धि चतुर्वृत्ति चतुःषष्ट्यङ्गसंयुतम्।
षट्त्रिंशल्लक्षणोपेतम् अलङ्कारोपशोभितम्॥
महारसं महाभोगमुदात्तरचनान्वितम्।
महापुरुषसञ्चारं साध्वाचारं जनप्रियम्॥

सुश्लिष्ट सन्धियोग च सुप्रयोगं सुखाश्रयम् ।
मृदुशब्दाभिघान च कवि· कुर्यात्तु नाटकम् ।।'

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र ने नाटक का लक्षण बताते हुए लिखा है कि जो प्रसिद्ध ग्राद्य (पौराणिक एव ऐतिहासिक) राज-चरित का ऐसा वर्णन हो जो धर्म, काम एव अर्थ का फलदाता हो और जो अक, उपाय (पच अर्थ प्रकृति), दशा (पचावस्था) से समन्वित हो वह नाटक कहलाता है—

'ख्याताद्यराजचरित धर्मकामार्थसत्फलम् ।
साङ्कोपायदशासन्धिदिव्याङ्ग तत्र नाटकम् ।।'[1]

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ नाटक का लक्षण करते हुए लिखते हैं—नाटक वह रचना है जिसकी कथावस्तु रामायणादि एव इतिहास मे प्रसिद्ध हो, जिसमे विलास, समृद्धि आदि गुण तथा अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन हो, जहाँ सुख-दु ख की उत्पत्ति दिखाई जा सके और अनेक रसो का समावेश हो सके, जिसमे ५ से १० तक अक हो, जिसका नायक पुराणादि मे प्रसिद्ध वश मे उत्पन्न, धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान् कोई राजर्षि अथवा दिव्य या दिव्यादिव्य पुरुष हो, जहाँ शृङ्गार अथवा वीर-रस प्रधान हो तथा अन्य रस अगभूत हो, जिसकी निर्वहण-सन्धि अत्यन्त अद्भुत हो, जिसमे चार या पाँच पुरुष प्रधान-कार्य के साधन मे व्यास हो, गौ की पूँछ के अग्रभाग के समान जिसकी रचना हो ।[2] जब नाटक मे दस से अधिक अक हो जाते है तो वह नाटक नही रहता, महानाटक बन जाता है । 'हनुमन्नाटक' इसी कोटि मे आता है ।

नाटक साहित्य की वह विधा है जिसकी सफलता का परीक्षण रगमच पर होता है और रगमच युग-विशेष की जनरुचि और तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था के आधार पर निर्मित होता है । रगमच के व्यवस्थापको एव कलाकारो को नाट्यरचना के साहित्यिक एव कलागत मूल्य के साथ-साथ रगमच के सस्थापको की रुचि का भी ध्यान रखना पडता है, अत नाटक का स्वरूप प्रत्येक युग मे परिवर्तित होता रहता है । नाटक के स्वरूप के बदल जाने से उसका लक्षण भी बदलना पडता है । हमारे देश मे सस्कृत के साहित्यिक नाटको का अभिनय राजप्रासादो तक ही प्राय सीमित था । इस कारण जनरुचि से दूर होने के कारण उसमे अधिक परिवर्तन नही आया और सस्कृत नाटक का जो लक्षण भरतमुनि के समय मे प्रचलित था, वही प्राय· आचार्य विश्वनाथ तक प्राप्त होता रहा । नृत्य रूपको की धारा स्वतन्त्र रूप से अवश्य विकसित होती हुई विश्व-

[1] नाट्यदर्पण, पृ० १, श्लोक ५ ।

[2] साहित्य दर्पण षष्ठ परिच्छेद ७, ११ ।

साथ तक कतिपय नवीन उपरूपकों का स्वरूप भास्वर हो गया और ये नयी मान्यताएँ आचार्यों का प्रमाणपत्र पाकर शास्त्रीय बन गईं।

संस्कृत में रूपक दो प्रकार से विकसित हुए। एक प्रकार तो मानव-विकास की पूर्णता को आदर्श मानकर चला, दूसरा समाज के यथार्थ रूप को दर्पण के समान प्रतिबिम्बित करता हुआ विकसित हुआ। जिसमें मानवता का उदात्त रूप सम्मुख आया वह नाटक हुआ और जिसमें समाज का वास्तविक रूप झलकने लगा वह प्रकरण कहलाया। नाटक में जहाँ किसी महान् राजा के उदात्त रूप की कल्पना की जाती है वहाँ प्रकरण में सामान्य जनता की वास्तविक स्थिति दिखाई जाती है। प्रथम का उदाहरण कालिदासकृत 'शकुन्तला' है और दूसरे का शूद्रक-विरचित 'मृच्छकटिक'।

आदर्शोन्मुख और यथार्थोन्मुख नाटक की ये दो पद्धतियाँ हमारे देश में सदा से चली आ रही हैं। भारतेन्दु ने दोनों शैलियों का अनुसरण किया। यदि नाटक शैली में 'हरिश्चन्द्र' की रचना हुई तो प्रकरण शैली में 'पाखण्ड-विडम्बन' की।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटक का लक्षण देते हुए लिखा है—'नाटक शब्द का अर्थ है नट लोगों की क्रिया। नट वह है जो विद्या के प्रभाव से अपने या किसी वस्तु के स्वरूप को फेर या स्वयं दृष्टिरोचन में अर्थ फिरे। दृश्य-काव्य की संज्ञा रूपक है। रूपकों में नाटक ही सबसे मुख्य है, इससे रूपकमात्र को नाटक कहते हैं। इस विद्या का नाम कुशीलवशास्त्र भी है। ब्रह्मा, शिव, भरत, नारद, हनुमान, व्यास, वाल्मीकि, लवकुश, श्रीकृष्ण, अर्जुन, पार्वती, सरस्वती और तुम्बुरु आदि इसके आचार्य हैं। इनमें भरत मुनि इस शास्त्र के मुख्य प्रवर्तक हैं।'[1] भारतेन्दु नाटक की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि 'काव्य के सर्वगुणसंयुक्त खेल को नाटक कहते हैं। इसका नायक कोई महाराज (जैसे दुष्यन्त) या ईश्वरांश (जैसे श्रीराम) या प्रत्यक्ष परमेश्वर (जैसे श्रीकृष्ण) होना चाहिए। रस शृङ्गार या वीर। अङ्क पाँच से ऊपर और दस के भीतर। आख्यान मनोहर और अत्यन्त उज्ज्वल होना चाहिए।'[2]

आधुनिक काल में नाटक के लक्षण जागृति से काफ़ी बदल गये हैं। बाबू गुलाबराय लिखते हैं, 'नाटक में जीवन की अनुकृति को शब्दगत संकेतों में संकुचित करके उसको सजीव पात्रों द्वारा एक चलते-फिरते सप्राण रूप में अंकित किया जाता है। नाटक जीवन की सार्वदेशिक अनुकृति नहीं है, वरन् सजीव प्रति-

१ भारतेन्दु नाटकावली, भाग २, पृ० ४०१, ४०२।
२ वही, पृ० ४२३।

लिपि है। नाटक मे फैले हुए जीवन-व्यापार की ऐसी व्यवस्था के साथ रखते हैं कि अधिक-से-अधिक प्रभाव उत्पन्न हो सके।'

[नाटक और नाटिका]

नाटिका उपरूपक सम्भवत भरतमुनि वर्णित नटी का विकसित रूप है। भरतमुनि का मत है कि नाटक और प्रकरण के योग से नाटिका का उद्भव होता है। **'प्रत्याख्यातस्त्वितरो वा नाटकयोगे प्रकरणे च।'** उनका मत है कि इसकी वस्तु कल्पित हो और नायक राजा हो। इसमे स्त्री पात्रो की बहुलता, चार अक, ललित अभिनय, सुगठित अग, विविध गीत-नृत्य-वाद्य हो और रति-सम्भोग वर्णन की विशेषता हो, राजोपचारयुक्त व्यवहार मे क्रोध एव उसकी प्रशान्ति तथा दम्भमय कृत्य हो, राजा नायक, उसकी रानी, नायक दूती एव परिजन जिसके पात्र हो।[1]

अभिनवगुप्त ने नायिका के सम्बन्ध मे एक नयी धारणा उपस्थित की है। उनका मत है कि भरतमुनि ने रतिसम्भोगादि का वर्णन तो नव-नायिका के लिए किया है और क्रोध प्रसादनदम्भादि देवी के लिए।

दशरूपककार ने नाटिका के इतिवृत्त को प्रकरण और नाटक के नियमानुसार बताया है। अक के विषय मे उनका मत है कि इसमे एक, दो, तीन अथवा चार अक हो सकते है। देवी (बड़ी रानी) मानिनी होनी चाहिए और नायिका मुग्धा, दिव्या और सुन्दरी हो। नायिका राजा की पार्श्ववर्तिनी हो, किन्तु वह देवी के क्रोध-भय से सशकित रहे।[2]

नाट्यदर्पणकार दो नायिकाएँ—देवी और कन्या—मानते है। दोनों प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध हो सकती हैं।[3]

शारदातनय का मत है कि नायक प्रख्यात व्यक्ति और धीरललित हो, रस शृङ्गार, वृत्ति कैशिकी, अवमर्श-रहित अन्य सन्धियाँ, विट का अभाव हो।[4]

विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' मे पूर्वाचार्यो के मत का समाहार करते हुए नाटिका का इस प्रकार लक्षण दिया है—नाटिका की कथा कविकल्पित होती है। इसमे चार अक होते हैं। अधिकाश पात्र स्त्रियाँ होती है। नायक प्रसिद्ध एव धीरललित राजा होता है। रनिवास से सम्बन्ध रखने वाली या राज-कुलोत्पन्ना कोई गायन-प्रवीणा अनुरागवती कन्या नायिका होती है। महारानी

१ नाट्यशास्त्र, १८ अध्याय, १०६-१११।

२ दशरूपक ३, ४६, ५२।

३, नाट्यदर्पण पृ० १२०-१२२।

४ भावप्रकाश पृ० २४३।

के भय से नायक राजा अपने प्रेम को शंकित होकर प्रकट करता है। महारानी राजवंश की प्रगल्भा नायिका होती है। वह पद-पद पर मान करती है। नायक और नवीन नायिका का समागम उसी के अधीन रहता है। इसमें शृङ्गार रस की प्रधानता रहती है। कैशिकी वृत्ति की योजना चारों अंकों में होती है। विमर्श-सन्धि बहुत कम होती है, शेष चारों सन्धियाँ होती हैं। इसके उदाहरण हैं—'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका', 'चन्द्रप्रभा' आदि।

भारतेन्दु ने नाटिका का लक्षण इस प्रकार लिखा है—"नाटिका में चार अंक होते हैं और स्त्री पात्र अधिक होते हैं तथा नाटिका की नायिका कनिष्ठा होती है, अर्थात् नाटिका के नायक की पूर्वप्रणयिनी के वश में रहती है। उदाहरण—'रत्नावली', 'चन्द्रावली' आदि।"

(२) अंक (उत्सृष्टिकांक)

नाटकों में भी अंक होते हैं, अतः उनसे इस रूपक प्रकार की भिन्नता दिखाने के लिए इसका नाम उत्सृष्टिकांक रखा गया है। आचार्य विश्वनाथ का मत है कि इसमें सृष्टि उत्क्रान्त अर्थात् विपरीत रहती है, इसीलिए इसे उत्सृष्टिकांक कहा जाता है। भरतमुनि का मत है कि अंक का इतिवृत्त प्रख्यात अथवा कभी-कभी अप्रख्यात होता है। पात्र दिव्यपुरुष नहीं होते। इसमें करुणरस की प्रधानता होती है और स्त्रियों का विलाप युद्धोपरान्त पाया जाता है। विलापकर्ताओं की व्याकुलता-भरी चेष्टाओं का नाना प्रकार से प्रदर्शन होता है जिसमें सात्वती, आरभटी और कैशिकी वृत्तियाँ नहीं होतीं। दिव्यनायकयुक्त इतिहास, जिसमें युद्ध, बन्ध और वध पाया जाय, भारत में ही रखने योग्य है। आचार्य भरतमुनि ने इसके लक्षणों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है।[1]

धनंजय ने प्रख्यात वृत्त को कल्पना-बल से विस्तृत कर देना आवश्यक माना है। इसमें नायक एवं अन्य पात्रों का साधारण व्यक्ति होना अनिवार्य है।[2] धनंजय के समान विश्वनाथ का भी मत है कि इसके नायक साधारण पुरुष होते हैं और इसमें जय-पराजय का वर्णन एवं वाक्कलह तथा स्त्रियों के रुदन पाए जाते हैं।

उत्सृष्टिकांक का शारदातनय ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उनका कहना है कि भरतमुनि इस रूपक में एक ही अंक, कैशिकी [illegible] तथा उपाला-[illegible] आदि तीन [illegible] मानते हैं। उन्होंने इसका नायक दिव्यपुरुष माना है।

१. [illegible], निर्णयसागर प्रेस, [illegible], [illegible]
२. [illegible]

सागरनन्दी इसमे दिव्यपुरुष पात्रो का प्रवेश स्वीकार नही करते। शारदातनय ने भरतमुनि के मत का आश्रय लेते हुए इस रूपक को केवल भारतवर्ष मे उपयुक्त माना है। उन्होने आचार्य शकुक का नामोल्लेख करके अपने मत की पुष्टि की है।[1]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसमे एक अक माना है और इसके नायक को गुणी एव आख्यान को प्रख्यात माना है। बाबू गुलाबराय इसमे करुणरस प्रधान और मुख एव निर्वहण सन्धियाँ स्वीकार करते हैं। कीथ का मत है कि जब नाटक के अन्तर्गत नाटक आ जाता है तो वह अक कहलाता है, पर यह मत सर्वमान्य नही। सस्कृत मे उत्सृष्टिकाक का उत्तम उदाहरण भास का 'उरुभग' है।

(३) ईहामृग

आचार्य अभिनवगुप्त और रामचन्द्र ने ईहामृग के नामकरण के सम्बन्ध मे लिखा है **'ईहा चेष्टा मृगस्यैव स्त्रीमात्रार्थास्तीहामृग'**, अर्थात् इसमे मृग के तुल्य अलभ्य कामिनी की इच्छा नायक अथवा प्रतिनायक करता है। धनजय और विश्वनाथ ने इसका निर्देश करते हुए लिखा है—**'दिव्यस्त्रियम-निच्छन्तीमपहारादिनेच्छत'**, अर्थात् इसमे (अनासक्त) किसी दिव्य नारी को अपहार (हरण) आदि के द्वारा प्राप्त करने की घटना दिखाई जाती है।

भरतमुनि ने केवल इतना ही उल्लेख किया है कि इसमे किसी दैवी नारी के लिए युद्ध दिखाया जाता है। इस रूपक की दूसरी विशेषता यह है कि इसमे अत्यन्त आवेश के कारण युद्ध का प्रसग पूर्णतया समुपस्थित होने पर भी किसी-न-किसी बहाने सग्राम टल जाता है।

धनजय ने ईहामृग की कतिपय विशेषताएँ सक्षेप मे इस प्रकार लिखी हैं—ईहामृग का इतिवृत्त मिश्रित (कुछ ऐतिहासिक और कुछ कल्पित) होता है। इसमे चार अक और मुख, प्रतिमुख एव निर्वहण नामक तीन सन्धियाँ होती हैं। मनुष्य और दिव्य पुरुष मे कोई नायक अथवा प्रतिनायक हो सकता है, किन्तु दोनो ही इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति होते हैं। प्रतिनायक धीरोद्धत होता है और विपरीत ज्ञान के कारण अनुचित कार्य किया करता है। इस रूपक मे दिव्यस्त्री के बलात् अपहरण की इच्छा रखने वाले नायक या प्रतिनायक की शृङ्गारमयी चेष्टाएँ भी कही-कही दिखाई जाती हैं। प्रबल उत्तेजना के कारण युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाने पर भी सघर्ष का टल जाना और किसी महात्मा

---
१ भावप्रकाश, पृ० २५१-५३।

के वध की पूर्ण तैयारी हो जाने पर भी उसे बचा लेना इस रूपक में प्राय दिखाया जाता है।[1]

शारदातनय ने इस रूपक के रस, वृत्ति एवं पात्र संख्या पर भी विचार किया है। उनका मत है कि इसमें कहीं-कहीं कैशिकी के अतिरिक्त शेष तीन वृत्तियाँ होती हैं और कहीं-कहीं कैशिकी वृत्ति भी प्राप्त होती है। इसमें भयानक और वीभत्स के अतिरिक्त शेष सभी रस पाये जाते हैं। नायकों की संख्या चार, पाँच या छ होती है। अंक चार होते हैं। इसमें स्त्री के कारण संग्राम आवश्यक है। उन्होंने 'कुसुमशेखर' नामक ईहामृग का उदाहरण दिया है।

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र शारदातनय से अंक एवं नायक-संख्या के सम्बन्ध में सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि ईहामृग में चार अंक आवश्यक नहीं, एक अंक भी हो सकता है। उन्होंने नायकों की संख्या बारह निश्चित की है।[2]

विश्वनाथ का मत शारदातनय और रामचन्द्र दोनों से भिन्न है। उनका मत है कि इसमें एक ही अंक होता है। नायक के सम्बन्ध में उन्होंने अन्य आचार्यों के आधार पर दो मत दिए हैं—(१) एक देवता ही नायक होता है और (२) छ नायक होते हैं।

अभिनवगुप्त ने भी अंक एक और नायक संख्या बारह स्वीकार की है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने चार अंक और नायक ईश्वर का अवतार तथा नायिका को देवी माना है। उनके मत में इसमें प्रेम इत्यादि वर्णित होता है तथा नायिका द्वारा युद्धादि कार्य सम्पादन होता है। उन्होंने उदाहरण नहीं दिया है। बाबू गुलाबराय ने इसमें एक धीरोदात्तनायक और एक प्रतिनायक माना है। उनका मत है कि नायक किसी कुमारी की स्पृहा करता है। वह मृग की भाँति दुष्प्राप्य हो जाती है। प्रतिनायक उसे बलात् में चुराना चाहता है। मिलन तो नहीं होता, किन्तु किसी का मरण भी नहीं होता। इसमें अंक चार होते हैं। हिन्दी में इसका उदाहरण नहीं मिलता।

(४) डिम

नाट्यदर्पणकार लिखते हैं—'डिम डिम्बो विप्लव इत्यर्थं, तद्योगादयं डिम, डिमे सघातार्थत्वादिति।' इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने इस रूपक

१ [illegible] ७०, ७४।

२ [illegible] पृ० ...

प्रकार को दो और नामो से पुकारा है, डिम्ब और विद्रोह।[1] सम्भवत इस रूपक मे विविध प्रकार के विप्लव के कारण इसका नाम आचार्य ने डिम्ब और विद्रोह रखा है। डिम का अर्थ समूह भी होता है। भरत मुनि के मत से इसमे देवता, नाग, राक्षस, यक्ष, पिशाच आदि १६ पात्रो के परस्पर वैमनस्य एव सघर्ष के कारण नाना प्रकार के मायावी तथा ऐन्द्रजालिक क्रिया-कलापो का प्रदर्शन होता है। सम्भव है, इसी कारण इसका नाम डिम पडा हो।

भरतमुनि के लक्षण का अनुसरण करते हुए धनजय, शारदातनय एव विश्वनाथ ने डिम का लक्षण इस प्रकार किया है—'जिसका इतिवृत्त प्रसिद्ध हो, देव, गन्धर्व, यक्ष-राक्षस और महासर्प इत्यादि जिसके नेता हो, भूत, प्रेत, पिशाच इत्यादि १६ अत्यन्त उद्धत पात्र हो, जो माया, इन्द्रजाल, सग्राम, क्रोध और उन्मत्तादिको की चेष्टाओ तथा सूर्य-चन्द्रग्रहण के वृत्त से व्याप्त हो, जिसमे चार अक हो, जो विष्कम्भक एव प्रवेशक से रहित हो, जिसमें कैशिकी को छोडकर अन्य वृत्तियाँ एव शान्त, हास्य एव शृङ्गार को छोडकर दीप्त छ रस हो, विमर्श को छोडकर चार सन्धियाँ हो।

नाट्यदर्पणकार ने इसके विषय मे विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उनका मत है कि डिम मे शान्त, हास्य एव शृङ्गार इन तीन रसो को स्थान नहीं है। डिम का मुख्य अगी रस रौद्र होता है और बीभत्सादि शेष रस अग बनकर आते हैं। सग्राम, बाहुयुद्ध, बलात्कार और पराभव आदि का वर्णन अनिवार्य रूप से पाया जाता है। सक्षेप मे आचार्य रामचन्द्र ने इसका लक्षण इस प्रकार लिखा है—**अशान्तहास्यशृगारविमर्शः ख्यातवस्तुक । रौद्र-मुख्यश्चतुरग ऐन्द्रजाल रणो डिम ॥८६॥**[2] भरतमुनि ने 'त्रिपुरदाह' नामक डिम का उल्लेख किया है। भावप्रकाश मे शारदातनय ने 'वृत्रोद्धरण' और 'तारकोद्धरण' का भी उदाहरण दिया है। सागरनन्दी ने १६ नायकयुक्त डिम के लिए 'नरकोद्धरण', विख्यात वस्तुविषय के लिए 'वृत्रोद्धरण' का नामोल्लेख किया है।

भारतेन्दु ने हिन्दी मे इस शैली का अभाव देखकर सक्षेप मे इतना ही लिखा है कि 'इसमे उपद्रव-दर्शन विशेष है। अक चार, नायक, देवता या दैत्य या अवतार।' बाबू गुलाबराय का मत है कि 'इसके चार अक और १६ नायक होते हैं। इसमे रौद्ररस का प्राधान्य रहता है। इसके नायक देवता, दैत्य या अवतार होते हैं और जादू तथा मायाजाल रहता है। इसमे शृगार और हास्य

---

१ काव्यानुशासन, पृ० ३२२।
२ नाट्यदर्पण, पृ० १२६।

वर्जित है।' उनकी दृष्टि में भी हिन्दी में डिम का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं है।

(५) प्रकरण

नाटक में प्रख्यात कथावस्तु होती है, किन्तु प्रकरण में उत्पाद्य। भरतमुनि प्रकरण का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि प्रकरण भी नाटक की तरह रसाश्रित और पंचसन्धि-समन्वित होता है। इसमें विप्र, वणिक्, सचिव, पुरोहित, अमात्य, सार्थवाह के चरित वर्णित होते हैं, जिनका नायक न तो उदात्त पुरुष होता है और न दिव्यचरित, जिसमें राजसम्भोग का वर्णन नहीं होता, जिसमें दास, विट्, श्रेष्ठी, वेशस्त्री (वेश्या), हीन-कुलवधू का चरित होता है। जिस अंक में मन्त्री, श्रेष्ठी, ब्राह्मण, पुरोहित, अमात्य, सार्थवाह की गृहवार्ता हो उसमें वेश्या का प्रवेश वर्जित है। जिस अंक में वेश्या के साथ कोई पुरुष दिखाई पड़े उसमें कुलवधुओं का प्रवेश निषिद्ध है।[1]

'दशरूपक' में प्रकरण का उक्त विवरण अल्प परिवर्तन के साथ प्राप्त होता है। प्रकरण का नायक मन्त्री, ब्राह्मण अथवा वणिक् में से कोई हो सकता है। नायक का धीरप्रशान्त होना आवश्यक है। उसकी कार्यसिद्धि में अनेक आपदाएँ आनी चाहिए। वह धर्मकामार्थ में तत्पर दिखायी पड़ता है। सन्धियाँ और रस नाटक के समान ही होते हैं। नायिका कुलीन स्त्री अथवा गणिका होती है। कहीं-कहीं दोनों दिखाई पड़ती हैं। प्रकरण की नायिका इन दोनों के अतिरिक्त नहीं हो सकती। पुरुष पात्रों में धूर्त भी रहते हैं। नायिका की दृष्टि से प्रकरण तीन प्रकार के होते हैं—(१) जहाँ केवल वेश्या नायिका हो, जैसे 'तरंगदत्त प्रकरण', (२) केवल कुलवती स्त्री हो, जैसे 'पुष्पदूतिका', (३) जहाँ सकीर्ण नायिकाएँ हों, जैसे 'मृच्छकटिक'।

नाट्यदर्पणकार का मत भरतमुनि और धनंजय से प्रायः मिलता है। अन्तर केवल इतना है कि वे प्रकरण का नायक धीरप्रशान्त ही नहीं, धीरोदात्त भी मानते हैं। नायिका के सम्बन्ध में उनका मत है कि वह नीच जाति की भी हो सकती है।[2] प्रकरण का वर्गीकरण करने में नाट्यदर्पणकार शास्त्र से पूर्ण सहमत नहीं हैं। वे तीन भेदों के स्थान पर प्रकरण के २१ भेद बताते हैं। अभिनवगुप्त ने भी २१ प्रकार का प्रकरण माना है। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने तो इतने प्रकार के प्रकरणों का अभिनय देखा था।[3]

१. भरत : नाट्य-शास्त्र : १८ श्लो० ९८-१०३।
२. नाट्यदर्पण : रामचन्द्र गुणचन्द्र २-४१-४३, पृ० १०३।
३. नाट्य-दर्पण - पृ० ११४।

शारदातनय ने प्रकरण का नायक धीरप्रशान्त ही माना है। भाषा के सम्बन्ध मे उनका मत है कि यदि नायिका वेश्या हो तो उसकी भाषा प्राकृत होनी चाहिये और कुलनायिका हो तो भाषा सस्कृत उचित है। शारदातनय प्रकरण मे शकार, कुट्टिनी, चेटी, धर्मशास्त्र-बहिष्कृत विट, चेट आदि का होना आवश्यक मानते है।[1]

साहित्यदर्पणकार ने प्रकरण मे शृगार रस पर बल दिया है और नायक का ब्राह्मण, मन्त्री अथवा वैश्य होना आवश्यक माना है। वे नायक को धीरप्रशान्त ही मानते हैं। उन्होंने ब्राह्मण नायक के लिए 'मृच्छकटिक', अमात्य नायक के लिए 'मालती माधव' और वैश्य नायक के लिए 'पुष्पदूतिका' का नामोल्लेख किया है।[2]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सक्षेप मे प्रकरण का लक्षण इस प्रकार किया है—यह और बातो मे नाटक के तुल्य होना चाहिए, किन्तु इसका उपाख्यान लौकिक हो, नायक कोई मत्री, धनी या ब्राह्मण हो। इसकी नायिका मन्त्रिकन्या, किसी के घर मे आश्रित भाव से रहने वाली एव वेश्या हो। प्रथमावस्था मे 'शुद्ध' और द्वितीयावस्था मे प्रकरण की 'सकर' सज्ञा होती है, उदाहरण, 'मल्लिका-मारुत', 'मालतीमाधव' और 'मृच्छकटिक'।

राघवन् ने प्रकरण पर विशेष रूप से विचार करते हुए सस्कृत के इस रूपक मे आसद तत्त्वो की खोज की है। उनका मत है कि भारतीय मत की सीमा के अन्तर्गत प्रकरण मे आसद तत्त्व पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है। प्रकरण मे कैशिकी-वृत्ति का अभाव इसका प्रमाण है। 'मृच्छकटिक', 'तरगदत्त', 'मालती-माधव' आदि प्रकरणो के पयवेक्षण से यह सिद्ध होता है कि प्रकरण मे आसद तत्त्व का होना अनिवार्य है। अश्वघोष के 'सारिपुत्र प्रकरण' से उन्होने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रकरण को धार्मिकता का रूप भी दिया जाता था। इस प्रकरण मे बुद्ध की जीवनी के साथ सारिपुत्र, ब्राह्मण मौद्गलायन एव विदूषक भी पात्र के रूप मे आते हैं।[3]

निष्कर्ष-रूप मे कहा जा सकता है कि प्रकरण का कथानक लौकिक और कवि-कल्पित होता है। इसका नायक धीर और शान्त होता है, अर्थात् वह मन्त्री, ब्राह्मण या वैश्य हो सकता है, धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति के लिए वह तत्पर रहता है और कई विघ्न-बाधाओ का सामना करते हुए अपने अभीष्ट

---

१ भाव प्रकाश, ८वाँ अधि०, पृ० २४२।

२ साहित्य दर्पण ४६, २२४, २२६।

३ दि सोशल प्ले इन सस्कृत पृ० ५-६।

की प्राप्ति करता है। प्रकरण में नायिका कुलकन्या या वेश्या होती है और कहीं-कहीं दोनों भी। इस दृष्टि से प्रकरण के तीन भेद माने गये हैं—(१) जिसमें नायिका कुलकन्या हो—वह शुद्ध, (२) जिसमें वेश्या हो वह विकृत और (३) जिसमें दोनों हों—वह संकीर्ण। 'तरंगदत्त' और 'मालतीमाधव' शुद्ध प्रकरण हैं, 'पुष्पदूतिका' विकृत है, 'मृच्छकटिक' संकीर्ण है। संकीर्ण प्रकरण धूर्त, जुआरी, विट, चेटादि पात्रों से संकुल रहता है। रस, सन्धि, प्रवेशक आदि बातों में प्रकरण नाटक के ही समान होता है। इसमें मानव तत्त्वों का बाहुल्य होता है। इस प्रकार अंग्रेजी के ट्रैजेडी का रूप इसमें प्रायः देखने को मिलता है।

(६) भाण

भरतमुनि ने भाण का लक्षण बताते हुए इसके दो भेद किये हैं—(१) आत्मानुभूत शंसी और (२) परसंश्रयवर्णन। प्रथम प्रकार के भाण में कलानिपुण धूर्त या विट किसी धूर्त या विट की विविध चेष्टाओं का स्वानुभव के बल पर वर्णन करता है और दूसरे प्रकार के भाण में वह अन्य व्यक्ति के कृत्यों की सुनी-सुनाई बातों का उद्घाटन करता है।[१] भाण में केवल एक ही पात्र होता है और वह आकाशभाषित (काल्पनिक पात्र) से 'किं ब्रवीषि' कहता हुआ सम्बोधन, उक्ति-प्रत्युक्ति आदि के द्वारा वीर रस-सूचक शौर्य एवं शृंगार रस-पोषक घटनाओं का प्रदर्शन करता है। इसमें केवल एक ही अंक होता है। इसमें भारती वृत्ति, मुख और निर्वहण सन्धियों में से एक सन्धि, कल्पित वस्तु और लास्य के दसों अंग होते हैं।[२] ऐसा ही मत विश्वनाथ का भी है।[३]

भाण में धूर्त चरित की प्रधानता होने से सम्भवतः यह रूपक प्रकार विद्वन्मण्डली में अधिक समादृत न हो पाया। इसी कारण 'भावप्रकाशन' में इस रचना का उद्देश्य साधारण लोगों का मनोरंजन माना गया है। इसके प्रधान रस के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। नाट्यदर्पणकार इसमें शृंगार को प्रधान माना और एवं हास्य को गौण मानते हैं। किन्तु भावप्रकाशनकार शारदातनय इसमें [illegible] रस स्वीकार करते हैं। [illegible] का समर्थन नहीं करते। उनका मत है कि जिस भाण में [illegible] ([illegible]) और [illegible] अधिक हों और जिसमें धूर्त [illegible] की प्रधान-

१. [illegible]

२. [illegible]

३. [illegible]

दु खात्मक नाना अवस्थाएँ एक अक मे सन्निविष्ट हो, वह भाण कहलाता है—
'यत्र परवचनमात्मवचनै सान्तरैर्ग्रथित वाच्य च भवेत्। आकाशपुरुषा यत्र व्याहरन्ति धूर्तविटाना सम्प्रयोगो नानावस्थाभि सुखदु खात्मकाभिश्चोपेत. एकागश्च भाणः।'

शारदातनय ने भाण पर विस्तार मे विचार किया है। उन्होंने भाण के निम्नलिखित दस भेद किये हैं—१. गेयपद, २. स्थितिपाठ्य, ३ आसीन, ४ पुष्पगण्डिका, ५ प्रच्छेदक, ६ त्रिमूट, ७ सैन्धव, ८ द्विमूढक, ९ उत्तमोत्तमक, १० भाव्य। उन्होंने प्रत्येक प्रकार के भाण के लक्षण भी बताये है।[1]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सस्कृत आचार्यों के मत के आधार पर सक्षेप मे भाण का लक्षण इस प्रकार बनाया है—'भाण मे एक ही अक होता है। इसमे नट ऊपर देख-देखकर, जैसे किसी से बात करे, आप-ही-आप सारी कहानी कह जाता है। बीच मे हँसना, गाना, क्रोध करना, गिरना इत्यादि आप ही दिखलाता है। इसका उद्देश्य हँसी, भाषा उत्तम और बीच-बीच मे सगीत होता है। उदा०—'विषस्य विषमौषधम्'।[2]

गुलाबराय ने इसके लक्षणो का और भी सक्षिप्तीकरण किया है। उन्होंने भाण का लक्षण इस प्रकार लिखा है—'यह एक ही अक का होता है। इसमे एक ही पात्र होता है, जो ऊपर को मुँह उठाकर आकाशभाषित के ढंग से किसी कल्पित पात्र से बातचीत करता है। इसमे धूर्तों का चरित्र रहता है और खूब हँसाया जाता है।'[3]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और गुलाबराय कृत भाण के लक्षणो मे सस्कृत आचार्यों की सारी विशेषताएँ स्पष्ट नही होती, अत अल्पविस्तार के साथ भाण का लक्षण इस प्रकार दिया जा सकता है—भाण मे एक अक और एक ही पात्र होता है। यह पात्र कोई बुद्धिमान् विट होता है। वह अपने तथा दूसरो के धूर्ततापूर्ण कृत्यो को वार्तालाप के रूप मे प्रकाशित करता है। रगमच पर आकर नायक आकाश की ओर देखता हुआ सुनने का नाट्य करके कल्पित पुरुष की उक्तियों को स्वय दुहराता है और उनका उत्तर देता है। स्वय प्रश्न करता है और स्वय उसका उत्तर देता है तथा शौर्य और सौन्दर्य के वर्णन से वीर एव शृङ्गार रस का आविर्भाव करता है। भाण मे प्राय भारती वृत्ति का आश्रय लिया जाता है, कही-कही कैशिकी वृत्ति का भी प्रयोग होता है।

---

१ भाव प्रकाश ८. पृ० २४४, २४६।
२ भारतेन्दु नाटकावली २. पृ० ४२४।
३ हिन्दी-नाट्य विमर्श पृ० ५१।

इसमें अंगों के सहित मुख और निर्वहण, दो सन्धियाँ होती हैं। लास्य के दस अंग भी इसमें व्यवहृत हो सकते हैं। इसका उदाहरण 'लीलामधुकर' है। इसके १० प्रकार होते हैं। हिन्दी में भारतेन्दु कृत 'विषस्य विषमौषधम्' भाण का उत्तम उदाहरण है।

(७) प्रहसन

भरतमुनि ने प्रहसन के दो भेदों में उसकी परिभाषा दी है। उनका मत है कि जब भागवत, तापस, भिक्षु, श्रोत्रिय आदि किसी (पाखण्डी) नायक और नीच व्यक्तियों द्वारा परिहास किया जाता है तो शुद्ध प्रहसन होता है। इसमें भाषा और व्यापार को आद्योपान्त समान रूप से पाखण्डी व्यक्तियों के यथार्थ जीवन के उपयुक्त नियोजित किया जाता है। यह परिहास के वाक्प्रपंचों से युक्त होता है। दूसरा भेद संकीर्ण प्रहसन है। संकीर्ण प्रहसन उसे कहा जाता है जिसमें वेश्या, चेट, नपुंसक, विट, धूर्त, बन्धकी (दुराचारिणी) के अशिष्ट वेश, भाषा और चेष्टाओं का अभिनय प्रदर्शित किया जाता है। इसमें सामान्य जनता में प्रचलित किसी दुराचरण पर दम्भ-पाखण्ड का प्रदर्शन अनिवार्य है।[1] भरतमुनि के आधार पर धनंजय ने प्रहसन का लक्षण लिखते हुए कहा है कि भाण से मिलते-जुलते इस रूपक-प्रकार में जब पाखण्डी और केवल जाति प्रताप से पूज्य, नीच प्रकृतिवाला, चेट, चेटी एवं विट से घिरा हुआ और भाषा में उन्हीं के सदृश चेष्टा करने वाला, उपहासास्पद व्यवहारों से युक्त नायक होता है तो वह शुद्ध प्रहसन कहलाता है। उन्होंने इसके दो और भेद वैकृत और संकर नाम से किये हैं।

शारदातनय ने इसकी अंक-संख्या और सन्धियों का भी उल्लेख किया है। उनका मत है कि प्रहसन में एक अंक होता है और मुख तथा निर्वहण सन्धि होती है। उन्होंने 'सागरकौमुदी' को शुद्ध प्रहसन, 'कैरविका' को संकीर्ण एवं 'कलिकेलि' को विकृत प्रहसन माना है।[2]

'साहित्यदर्पण' में विश्वनाथ ने भाण के समान प्रहसन में अवलगित, अवस्कन्द, व्यवहार, विप्रलम्भ, उपपत्ति, भय, विभ्रान्ति, अनृत, गद्गद, वाक् और प्रलाप नामक दस वीथ्यंगों का होना आवश्यक है। उनका मत है कि इसमें दो अंक भी हो सकते हैं।[3] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रहसन का लक्षण

१. [illegible]
२. [illegible]
३. [illegible]

राजा, धनी, ब्राह्मण या धूर्त्त माना है। भाण मे एक पात्र होता है किन्तु प्रहसन मे अनेक पात्र आते हैं। उनका मत है कि 'यद्यपि प्राचीन रीति से इसमे एक ही अक होना चाहिए, किन्तु अब अनेक दृश्य दिये विना नही लिखे जाते, उदाहरण 'हास्यार्णव', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अन्धेर नगरी', 'जैसे को तैसा', 'कलियुगी जनेऊ' आदि।

गुलावराय ने केवल तीन वाते आवश्यक मानी है—(१) हास्यरस की प्रधानता (२) एक अक और (३) मुख और निर्वहण सन्धियाँ।

उपयुंक्त सभी मतो का समाहार करते हुए प्रहसन का लक्षण इस प्रकार दिया जा सकता है—

भाण के समान ही प्रहसन भी होता है, पर इसमे हास्यरस का आधिक्य होता है। वीथी के तेरहो अगो की अवस्थिति इसमे हो सकती है। इसका हास्य उच्च कोटि का नही होता और प्राय कवि-कल्पित होता है। इसमे आरभटी वृत्ति तथा विष्कम्भ और प्रवेशक का प्रयोग नही होता। प्रहसन मे तपस्वी, सन्यासी अथवा पुरोहित नायक होता है।

प्रहसन तीन प्रकार का होता है—शुद्ध, विकृत और सकर। प्रथम प्रकार के प्रहसनों के नायक पाखण्डी, सन्यासी, तपस्वी अथवा पुरोहित होते हैं। चेट-चेटी आदि नीच पात्र भी इसमे होते हैं। इसका वहुत कुछ प्रभाव वेश-भूषा तथा वोलने के ढग से जाना जा सकता है। हास्यपूर्ण उक्तियो का इसमे वाहुल्य होता है। द्वितीय प्रकार के प्रहसनो मे नपु सक, कचुकी और कामुको के रूप मे तपस्वी होते हैं और अपनी चेष्टाओ द्वारा प्रेक्षको का मनोरजन करते हैं। तीसरे प्रकार के प्रहसनो मे हँसी-दिल्लगी की वहुत विशेषता होती है, नायक धूर्त्त, छली, प्रपची हुआ करते हैं तथा अधिवल (स्पर्धायुक्त वातें), नालिका (अव्यक्तार्थ परिहास-वचन), असत्प्रलाप (वेसिर पैर की वातें), व्याहार (हँसी उडाना) और मृदव (गुण को अवगुण और अवगुण को गुण वनाकर कहना)—इन वीथ्यगो का अधिकता से व्यवहार किया जाता है।

(८) वीथी

वीथी का अर्थ है पक्ति। इस रूपक के नामकरण का कारण यह प्रतीत होता है कि इसमे उद्घात्यक से मार्दव तक तेरह अग पक्तिवद्ध होकर आते है। भरत मुनि का मत है कि इसका अभिनय दो अथवा एक पात्र के द्वारा होता है। वे पात्र उत्तम, मध्यम अथवा अधम कोटि के होते है। इसमे एक अक होता है और कोई भी रस आ सकता है। धनजय और विश्वनाथ

का मत है कि शृङ्गार की अधिकता के कारण इसमे कैशिकी वृत्ति होती है। इसमे मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं और अर्थप्रकृतियाँ सभी विद्यमान होती हैं।[1] सागरनन्दी का मत है कि यह रूपक तीन पात्रो से अभिनीत होता है। उन्होने उदाहरण के लिए 'वकुल-वीथी' का नामोल्लेख किया है। वीथी के सम्बन्ध मे प्राय सभी आचार्य एक बात पर बल देते है कि इसमे तेरह वीथ्यगो को अवश्य नियोजित करना चाहिए। उन्होंने तेरह वीथ्यगो का क्रम बताते हुए कहा कि उद्घात्यक और अवगलित तो प्रस्तावना के प्रकरण मे आते है और शेष इसके उपरान्त। अवशिष्ट वीथ्यगो का क्रम इस प्रकार है—प्रपच, त्रिगत, छल, वाक्केलि, अधिबल, गण्ड, अवस्यन्दित, नालिका, प्रहेलिका, असत्यप्रलाप, व्याहार, मृदव।

कोहल नामक आचार्य ऐसे हुए हैं, जिनका मत है कि इन तेरह लास्यागो का होना अनिवार्य नही। शारदातनय उनके मत का उल्लेख करते हुए कहते हैं—'भवेयुर्वा न वेत्यस्यां लास्यंगान्याह कोहल.'[2] नाट्यदर्पणकार ने शकुक का मत देते हुए लिखा है कि उनके मत के अनुसार वीथी का नायक अधम कोटि का नही हो सकता। अन्यथा प्रहसन, भाण आदि हास्यरसप्रधान रूपको मे विटादि अधम नायको की क्या उपादेयता रहेगी? दो पात्रो की उक्ति-प्रत्युक्ति मे जब वैचित्र्य आ जाता है तो वीथी रूपक बनता है और एक पात्र भी जब आकाश-भाषित के द्वारा कथोपकथन करता है तो वीथी रूपक की रचना होती है।[3]

(९) व्यायोग

व्यायोग शब्द का अर्थ है विविध व्यक्ति से युक्त। कदाचित् भरत मुनि ने इस नाट्य प्रकार मे 'बहवस्तत्र च पुरुषाः' अनेक पुरुष पात्रो के कारण इसका नाम व्यायोग रखा था। अभिनवगुप्त का मत है कि युद्ध मे पुरुषो के नियुद्ध होने के कारण इसे व्यायोग कहा जाता है—'व्यायामे युद्धप्राये नियुद्धन्ते पुरुषा यत्रेति व्यायोग इत्यर्थ'।

भरतमुनि का मत है कि इसमे प्रख्यात नायक होता है और इतिवृत्त भी प्रख्यात होता है। स्त्री-पात्रो की सख्या अल्प होनी चाहिए।[4] इसकी घटना

१ साहित्यदर्पण ६ ५५३-५६।
२ भावप्रकाश ८. पृ० २५१।
३ नाट्य दर्पण पृ० १३३।
४ काव्यानुशासन. पृ० ३२३।

एक दिन की अवधि की हो, अक एक हो, इसका नायक देवता नही, प्रत्युत कोई राजर्षि हो, इसमे युद्ध, व्यक्तिगत सघर्ष एव रोषपूर्ण युद्ध पाया जाता है। व्यायोग का मूल स्रोत दीप्त काव्यरस है।

धनजय ने भरतमुनि के लक्षणो का आश्रय लेते हुए इतना और स्पष्ट किया है कि इसमे गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नही होती। इसमे सग्राम स्त्री के निमित्त नही होता—(**अस्त्रीनिमित्त सग्रामो**)। और इसका अभिनय अनेक पात्रो के द्वारा होता है। शारदातनय ने इस बात पर बल दिया है कि युद्ध स्त्री के निमित्त न हो और पात्र सख्या दस से अधिक न हो—'**अस्त्रीनिमित्त-सग्रामो व्यायोग कथितो बुधैः। नायकास्त्रिचतुष्पच भवेयुर्न दशाधिका।**'[1] सागरनन्दी ने व्यायोग को ऋषिकन्यापरिणय-युक्त, सम्भोगयुक्त, दीप्त, वीर एव रौद्ररस सहित, करुण और शृगार की अतिशयता से रहित, मुख-निर्वहण सन्धि सयुक्त, सस्फोट (युद्ध) सहित माना है।

अभिनवगुप्त का मत है कि व्यायोग का नायक देवता, नृपति अथवा ऋषि नही होना चाहिए। विश्वनाथ अभिनवगुप्त के मत से सहमत नही हैं। उन्होंने इसका नायक प्रख्यात धीरोद्धत राजर्षि अथवा दिव्यपुरुष माना है। उन्होंने 'सौगन्धिकाहरण' को व्यायोग माना है।[2] सस्कृत नाटको मे 'परशुराम-विजय' 'धनजय विजय', 'वीर विक्रम' इत्यादि व्यायोग प्रसिद्ध हैं। भास का 'मध्यम व्यायोग' इसका उत्तम उदाहरण है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने व्यायोग का सक्षेप मे इस प्रकार लक्षण दिया है—'युद्ध का निदर्शन, स्त्री-पात्र-रहित और एक ही दिन की कथा होती है। नायक कोई अवतार या वीर होना चाहिए। ग्रन्थ नाटक की अपेक्षा छोटा होता है। उदाहरण—'धनजय विजय।'

गुलाबराय का मत है कि 'इसमे एक ही अक होता है। स्त्री-पात्रो का अभाव-सा रहता है, वीर रस का प्राधान्य होता है, मुख, प्रतिमुख और निर्वहण सन्धियाँ रहती हैं।'

(१०) समवकार

अवकीर्ण का अर्थ है फैला हुआ। इस रूपक मे कई नायको के प्रयोजन समवकीर्ण अथवा सगृहीत किए जाते हैं, अत इसका नाम समवकार रखा गया है। शारदातनय ने १२ नायको का पृथक्-पृथक् प्रयोजन माना है।

१ भावप्रकाश ८ पृ० २४८।
२ साहित्य दर्पण ६ २३१-३२।

'पृथक्प्रयोजनास्तत्र नायका द्वादश स्मृता ।'[1]

इस रूपक के लक्षण के सम्बन्ध मे प्राय सभी आचार्य एकमत है। सबने भरतमुनि के मत का समर्थन किया है। सभी आचार्यों का मत है कि देवता और असुरो से सम्बन्ध रखने वाली इतिहास-पुराणादि मे प्रसिद्ध कथा इसमे निबद्ध की जाती है। इसमे विमर्श के अतिरिक्त शेष चारो सन्धियाँ एव तीन अक होते है। प्रथम अक मे दो सन्धियाँ और शेष मे एक-एक सन्धि होती है। कैशिकी को छोडकर अन्य सभी वृत्तियाँ होती हैं। विन्दु और प्रवेशक नही होते, किन्तु तेरह वीथ्यग पाये जाते हैं। इसमे गायत्री, उष्णिक् आदि अनेक प्रकार के छन्द होते हैं।

नायक के सम्बन्ध मे आचार्यों का कही-कही मतैक्य नही है। नायको की सख्या तो सभी बारह स्वीकार करते हैं, किन्तु विश्वनाथ का मत नायको की जाति के सम्बन्ध मे अन्य आचार्यों से भिन्न है। धनजय[2], शारदातनय[3] तथा रामचन्द्र[4] का मत है कि इसके नायक उदात्त चरित्र वाले देवता और दानव होते हैं, किन्तु विश्वनाथ ने धीरोदात्त नायक देवता और मनुष्य माना है।[5] गम्भीरता से विचार करने पर विश्वनाथ का मत मान्य नही प्रतीत होता। कारण यह है कि विश्वनाथ प्रारम्भ मे इस मत से सहमत है कि समवकार का इतिवृत्त देव-दानव से सम्बन्ध रखता है। ऐसी अवस्था मे दानव के स्थान पर मानवपात्र किस प्रकार नियोजित किए जा सकते हैं ?

इस रूपक के रस के सम्बन्ध मे 'नाट्यशास्त्र' मे विस्तारपूर्वक विचार किया गया है और सभी आचार्यों ने उसी का अनुसरण किया है। इसमे तीन प्रकार के शृगार होते हैं—(१) धर्म शृङ्गार, (२) अर्थ शृगार, (३) काम शृङ्गार। एक अक मे एक प्रकार का शृङ्गार अवश्य आना चाहिए। काम शृगार प्रथम अक मे ही आता है। धनजय का मत है कि वीर रस की अधिकता सभी पात्रो मे अपेक्षित है। उन्होंने 'समुद्रमन्थन' समवकार का उदाहरण देकर अपने मत की पुष्टि की है।[6] नाट्य-दर्पणकार ने वीर के साथ रौद्ररस का भी उल्लेख किया है।[7] रामचन्द्र ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा

१ भावप्रकाश पृ० २४८।
२ दशरूपक ३६६,
३ भावप्रकाश पृ० २४८।
४ नाट्यदर्पण पृ० १२४।
५ साहित्य दर्पण ६ २३५।
६ दशरूपक ३ ६४।
७ नाट्यदर्पण पृ० १२४।

है कि देव-दैत्यो के उद्धत्व के कारण शृगार की छाया मात्र ही सम्भव है। 'दैवदैत्यानामुद्धतत्वेन शृङ्गारस्य छायामात्रत्वेन निवन्धादिति।'[१]

तीन अक और तीन शृङ्गार के साथ-साथ इसमे तीन कपट एव तीन विद्रव भी आवश्यक माने गए हैं। तीन कपट हैं—(१) वस्तुस्वभावकृत, (२) देवकृत और (३) अरिकृत। तीन विद्रव हैं—(१) नगरोपरोधकृत, (२) युद्ध-कृत और (३) वाताग्निकृत।

इस रूपक मे कथाकाल की अवधि भी नियत की गयी है। प्रथम अक की कथा ऐसी होनी चाहिए जो वारह नाडियो मे सम्पादित हुई हो (एक नाडी दो घडी, अर्थात् ६० मिनट की होती है), दूसरे अक की कथा चार नाडी मे और तीसरे की दो नाडी में समाप्त होनी चाहिए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसमे तीन अक, १२ तक नायक, कथा दैवी, छन्द वैदिक तथा युद्ध, आश्चर्य एव माया इत्यादि का होना माना है। उनका कथन है कि भाषा मे इसका कोई उदाहरण नही।

गुलावराय ने इसमे १२ नायको के पृथक्-पृथक् फल, देव-दानवो की कथा, तीन अक, विमर्श सन्धि एव विन्दु नामक अर्थप्रकृति का अभाव और युद्ध की अनिवार्यता मानी है। 'अमृतमन्थन' एव भासकृत 'पचरात्र' इसके उदा-हरण दिए गए हैं।

---

१ नाट्यदर्पण पृ० ११४।

उपरूपक का स्वरूप

नाट्य पर आधृत दृश्यकाव्य रूपक कहलाते है और नृत्य पर आधृत उपरूपक। उपरूपको का स्पष्ट उल्लेख प्रारम्भिक नाट्याचार्यों ने कही नही किया। धनजय के नाट्यग्रन्थ का नाम 'दशरूपक' इस तथ्य का साक्षी है कि उनकी दृष्टि मे उपरूपको का महत्व नही था। उन्होने उपरूपको का प्रसग स्पष्ट रूप से कही नही उठाया है। 'भावप्रकाश', 'साहित्यदर्पण' आदि मे विविध उपरूपको का विस्तृत लक्षण इसका प्रमाण है कि उनके काल तक आते-आते नृत्य पर आधृत दृश्यकाव्य साहित्य की कोटि मे परिगणित होने योग्य बन गये थे। इनके पूर्व 'नाट्यशास्त्र', 'अग्निपुराण', 'दशरूपक', 'प्रतापरुद्रीय', 'रसार्णवसुधाकर' मे उपरूपको का उल्लेख नही मिलता। यद्यपि ११ उपरूपको के नाम सर्वप्रथम 'अग्निपुराण' मे प्राप्त होते है, किन्तु न तो उन्हे उपरूपक की सज्ञा दी गयी है और न उनके लक्षण या उदाहरण दिये गये हैं। इसी प्रकार यद्यपि धनजय ने एक स्थान पर लिखा है—'**डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणी प्रस्थानरासका.। काव्य च सप्त नृत्यस्य भेदा. स्यु तेऽपिभाणवत्।**' पर उन्होंने कही भी इनके लक्षण एव उदाहरण नही दिये। इसी प्रकार अभिनव गुप्त ने डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, भाणिका, प्रेक्षणक, रामाक्रीड, हल्लीशक, रासक नामक उपरूपको का उल्लेख तो किया है किन्तु उनका विवेचन कही नही किया है। हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' मे अभिनव गुप्त के नामो के अतिरिक्त श्रीगदित और गोष्ठी को सयुक्त कर दिया है।

शारदातनय ने 'भावप्रकाश' मे जिन बीस उपरूपको की यथाविधि व्याख्या की है, उनकी नामावली इस प्रकार है—तोटक, नाटिका, गोष्ठी, सलाप, शिल्पक, डोम्बी, श्रीगदित, भाणी, प्रस्थान, काव्य, प्रेक्षणक, सट्टक, नाट्यरासक, लासक (रासक), उल्लोप्यक, हल्लीश, दुर्मल्लिका, कल्पवल्ली, पारिजातक। इस प्रकार यदि इन बीस उपरूपको मे 'अग्निपुराण' का कर्ण, 'नाट्यदर्पण' का नर्त्तनक, 'साहित्यदर्पण' का विलासिका और अभिनव गुप्त द्वारा सकेतित तीन उपरूपक और जोड दिये जायें तो सम्पूर्ण सूची मे २६

उपरूपक सम्मिलित हो जायें। शारदातनय मे पूर्व रामचन्द्र ने 'नाट्यदर्पण' मे जिन उपरूपको का नामोल्लेख किया है वे है—सट्टक, श्रीगदित, दुर्मीलिता, प्रस्थान, गोष्ठी, हल्लीशक, नर्त्तनक, प्रेक्षणक, रासक, नाट्यरासक, काव्य, भाण, भाणिका।

आज जो १८ उपरूपक सर्वमान्य बन गये है, उनके नाम एव लक्षण आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' मे विस्तार के साथ लिखे हैं, किन्तु उन्होने उपरूपक की परिभाषा देने की आवश्यकता न जाने क्यो नही समझी। रूपको की नामावली के साथ-ही-साथ १८ उपरूपको का नाम देकर वे लिखते हैं —'**अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिण**।' इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विश्वनाथ के युग मे मनीषी व्यक्तियो मे १८ उपरूपक मान्य थे, इसी कारण इन उपरूपको की पूरी व्याख्या और उनके उदाहरण देने की उन्हे आवश्यकता प्रतीत हुई।

विद्वानो ने यह प्रश्न उठाया है कि भरतमुनि की दृष्टि से उपरूपक क्यो बच गये? रामास्वामी शास्त्री ने इसका उत्तर देते हुए लिखा है कि इस काल मे नृत्य-रूपको का विस्तार नही हो पाया था। भरत ने जिन नृत्य-प्रकारो का वर्णन किया है उनमे से कतिपय कोहल तक उपरूपक की स्थिति तक पहुँच रहे थे। अत कोहल तथा अन्य व्याख्याकारो ने उपरूपको की सृष्टि की। हर्ष की तोटक नामक उपरूपक की व्याख्या ने जिसका उल्लेख शारदातनय ने बारहवी शताब्दी मे किया, इस तथ्य की साक्षी दी है कि हर्ष के युग मे उपरूपको का सृजन हो चुका था।

उपरूपको के सृजन-काल के सम्बन्ध मे विभिन्न मत हैं। कतिपय विद्वान् कोहल को इसका श्रेय देते है।[1] दूसरा मत यह है कि उपरूपको की परिकल्पना रूपक के प्रचलन के उपरान्त ही सम्भव है। यद्यपि रूपक शब्द का प्रयोग धनजय मे पूर्व आचार्यो ने भी किया है, किन्तु रूपको के दस भेदो को रूपक नाम मे अभिहित करने का श्रेय सर्वप्रथम धनजय को ही दिया जाता है। इसी प्रकार उपरूपक के निश्चित नामकरण का गौरव साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ को देना चाहिए। इसका कारण यह है कि विश्वनाथ मे पूर्व आचार्य हेमचन्द्र ने इन नृत्यभेदो को गेय रूपक और रामचन्द्र ने 'अन्यानि रूपकाणि' कहकर सम्बोधित किया है। अभिनव गुप्त ने एक स्थान पर लिखा है—'एते प्रबन्धा नृत्यात्मका, न नाट्यात्मका नाटकादि विलक्षण।' इनसे प्रमाणित होता है कि नृत्त पर आधृत होने के कारण जिन प्रबन्धो मे नाटकीय तत्त्वो का

[1] भावप्रकाश, भूमिका, पृ० ३१।

प्रभाव था, उन्हे रूपक या उपरूपक की कोटि मे परिगणित करना आचार्यों को अभीष्ट न था। कालान्तर मे जब वे प्रबन्ध नृत्य का अवलम्बन लेने लगे तो वे उपरूपको के समीप पहुँचने लगे। विश्वनाथ के युग मे ये नृत्य पर अवलम्बित प्रबन्ध इतने प्रेक्षणीय और प्रिय बन गये कि आचार्यों ने इन्हे उपरूपक नाम से विभूषित किया है।

जहाँ रूपक का उद्देश्य प्रेक्षको के अन्त करण मे स्थित स्थायी भाव को रसस्थिति तक पहुँचा देना है वहाँ उपरूपक का प्रयोजन है उपयुक्त भाव-भगिमा के द्वारा प्रेक्षको के सम्मुख किसी भाव-विशेष को प्रदर्शित करना। बाबू गुलाबराय का मत है कि इन उपरूपको की हिन्दी नाट्यकारो को आवश्यकता नही प्रतीत हुई।

रासक (उपरूपक) का विकास

भरतमुनि ने नाटक की विशेषताओं का विवेचन करते हुए एक स्थल पर लिखा है—

मृदु-ललित-पदाढ्यं-गूढ़-शब्दार्थहीन
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम् ।
बहुरसकृतमार्गं सन्धि-सन्धानयुक्त
भवति जगति योग्य नाटक प्रेक्षकाणाम् ।

इन शब्दो मे उन्होने नाटक के लिए गूढ शब्दार्थ-रहित मृदुललित पद की योजना, सामान्य व्यक्तियो के लिए बुद्धिग्राह्य रचना की व्यवस्था, सुसगठित कथानक, नृत्य की उपादेयता, विविध पात्रो द्वारा रसाभिव्यक्ति तथा सन्धियो के सन्धान को आवश्यक बताया है। ये ही नाटक के अनिवार्य अग-प्रत्यग हैं। जब तक सस्कृत नाटको मे ये अवयव समानुपात रूप मे बने रहे, नाटक आह्लादक माने जाते रहे, किन्तु कालान्तर मे जब अनेक कारणो से समानुपात भग होने लगा तो नाटक प्राकृतिक सौन्दर्य से वचित हो गये और वृद्धावस्था के समान उनके विविध अवयव विकृत हो उठे। प्रमाणस्वरूप 'शकुन्तला' और 'हनुमन्नाटक' की तुलना की जा सकती है।

सस्कृत नाट्यकार भरतमुनि के 'जनपदसुखबोध्य' की क्रमश उपेक्षा करते गये। नाटक आभिजात्य वर्ग की गोष्ठी का विषय बनकर रह गया। जनता से नितान्त सम्पर्क छूट जाने पर वह दृश्य काव्य की परिधि का उल्लघन कर श्रव्य काव्य की सीमा मे पहुँच गया।

ऐसी स्थिति मे सामान्य जनसमुदाय अपने विकसित नृत्य प्रकारो मे कथानक और सवाद सयुक्त कर अत्यल्प साधनो के बल पर दृश्य काव्य का आनन्द लेने लगा। यह स्वाभाविक भी था। भारतीय अपने विविध पवित्र पर्वों के अवसर पर सामूहिक रूप से आनन्द मनाने के अभ्यासी थे ही। उन्होंने नृत्य-नाट्यो मे काव्यतत्त्व सयुक्त कर उसे और विकसित करने का प्रयास किया। इन्हीं प्रयासो का परिणाम है कि हम अपभ्रश काल मे अनेक रासक

ग्रन्थो का दर्शन करते हैं। यद्यपि अठारह या बीस उपरूपकों मे कई उपरूपकों की उन्नति हुई, किन्तु आज जो धारा एक सहस्र वर्ष से अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती चली आ रही है उसका नाम रास या रासक धारा है। हम सक्षेप मे उसी का सक्षिप्त परिचय यहाँ देने का प्रयास करेंगे। आज सबसे बडा प्रश्न रासक के सम्बन्ध मे यह पूछा जाता है कि क्या ये प्राप्य ग्रन्थ दृश्य काव्य माने जा सकते हैं ?

इस विषय मे पहले रूपको और उपरूपको का अन्तर समझ लेना होगा। उपरूपक तो नृत्य से विकसित होकर नाटक की कोटि मे पहुँचे है। उनमें पूर्ण नाटको की सभी सन्धियो, सन्ध्यगो, कार्य-अवस्थाओ और अर्थ-प्रकृतियो अर्थात् पूर्ण नाटक की सभी शास्त्र-सम्मत विशेषताओ का अनुसन्धान करना व्यर्थ है। कारण यह कि नृत्य प्रधान मानकर जब कोई कथानक प्रदर्शन के निमित्त प्रस्तुत किया जाता है तो उसमें नाटक के अन्य अग इतने परिपुष्ट नही बन पाते। यह स्वाभाविक है। जब कवि अपने मन मे ऐसी नाट्य-योजना बनाता है, जो नृत्य के द्वारा प्रदर्शित होकर सामाजिक को मुग्ध करे तो वह स्वभावतः कथनोपकथन, घटना के आरोहावरोह, पात्रो के अन्तर्द्वन्द्व, भाषा के सौष्ठव के साथ पूर्ण न्याय नही कर पाता। उसका तो एकमात्र उद्देश्य ऐसी रचना करना होता है, जो मुख्य रूप से नृत्य एव सगीत के द्वारा आकर्षक बन सके। नाटक के अन्य अवयव उसके अग बनकर आ जाएँ तो वह उनका स्वागत करता है। यदि नही आते तो वह उनकी चिन्ता भी नही करता। इसी प्रवृत्ति ने रासक नाटको को जन्म दिया।

रासक नामक उपरूपक का अपना इतिहास है। भरत के नाट्य-शास्त्र में इसका कहीं उल्लेख नही मिलता। सम्भव है उस काल मे 'रास' नृत्त या नृत्य के रूप मे अविकसित रहा हो। दशरूपककार धनजय ने भी इसका उल्लेख नही किया है।

नाट्य-शास्त्र मे ऐसे उद्धरण भी आ जाते हैं जिनके आधार पर उपरूपको की बीजावस्था का अनुमान लगाया जा सकता है। किन्तु वे उद्धरण इतने निर्बल और अनियमित हैं कि उनसे उपरूपको के विकास-क्रम का कोई सकेत नही मिलता।

सर्वप्रथम 'अग्निपुराण' के अध्याय ५२८ मे १७ नामो मे रासक का उल्लेख मिलता है, किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ मे उन्हें न तो कहीं उपरूपक कहा गया है और न उनके लक्षणों पर प्रकाश डाला गया है।

दशरूपक (अवलोक टीका) मे एक श्लोक मिलता है—

डोम्बी श्रीगदित भाणो
भाणी प्रस्थान रासका
काव्य च सप्त नृत्यस्य
भेदा स्युस्तेऽपि भाणवत् ॥

अभिनव भारती[1] मे प्रसगवशात् डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, भाणिका, रामाक्रीड, हल्लीशक और रासक का उल्लेख मात्र किया गया है, किन्तु उसमे कही भी उन्हे उपरूपक की भाँति स्वीकार नही किया गया। श्री रामास्वामी शास्त्री[2] का मत है कि अभिनव गुप्त ने नाट्य-शास्त्र पर कोहल तथा उनके अनुयायियो की टीका के आधार पर यह मत बनाया होगा। शारदातनय ने भी अप्रत्यक्ष रूप से उपरूपको का उल्लेख किया है। सर्वप्रथम प्रत्यक्ष रूप से रासक उपरूपक का दर्शन हेमचन्द्र के काव्यानुशासन ग्रन्थ मे होता है। उन्होने नाटको का एक नया वर्गीकरण किया—पाठ्य और गेय। गेय रूपको अथवा उपरूपक के सम्बन्ध मे उन्होंने लिखा है—"गेय-डोम्बिका भाण प्रस्थान शिगक भाणिका प्रेरण रामाक्रीड हल्लीशक रासक गोष्ठी श्रीगदित राग काव्यादि।" इस प्रकार उन्होंने १३ गेय नाटको की गणना की है और उपरूपको का उल्लेख करते हुए सकेत किया है—

'ब्रह्म-भरत-कोहलादि शास्त्रेभ्योऽवगन्तव्य.'। इस प्रकार उन्होंने अपने मत के समर्थन के लिए नाट्य-शास्त्र का आधार लिया है।

स्वाभाविक है कि उपरूपक नाम की कल्पना रूपक के नामकरण के उपरान्त ही हुई। यद्यपि रूप शब्द का उल्लेख नाट्यशास्त्र मे प्राप्त है, किन्तु वह रूपक के लिए प्रचलित नही हो पाया था। रूपक शब्द का प्रचलन दश-रूपक ग्रन्थ के उपरान्त ही हुआ होगा। अत उपरूपक की धारणा इसके उपरान्त ही बन पायी होगी। ये उपरूपक बीज-रूप से नृत्य-भेदो मे सन्निहित थे। दशरूपककार ने कही उपरूपक का नामकरण नही किया है। हेमचन्द्र ने भी उपरूपक शब्द का प्रयोग न करके गेय रूपक ही नाम दिया है। 'नाट्य-दर्पण' और 'भावप्रकाश' मे भी यह शब्द नही आ पाया है। नाट्यदर्पणकार गेय-रूपको को 'अन्यानि रूपकाणि' कहकर सम्बोधित करते हैं। उनके मत मे ये उपरूपक नृत्य और नाटक के मध्य की स्थिति मे थे। वे कहते हैं—

"एतानि च स्वल्पमात्ररञ्जन निमित्तत्वाद् वृद्धैरनभिहितत्वाच्च
वृत्तावेव कीर्त्तितानि।"

---

1 नाट्य-शास्त्र—अभिनव गुप्त की टीका—चतुर्थ अध्याय।
2 Introduction to भावप्रकाश Page 15—रामास्वामी शास्त्री।

अर्थात्, ये नृत्य—प्रकार अल्प मात्रा मे मनोरंजन करने के निमित्त प्राचीन आचार्यों के उल्लेख न करने पर भी उनकी वृत्ति मे वर्णित होने से अन्य रूपको मे माने जा सकते हैं।

आश्चर्य तो यह है कि एक ही आचार्य एक ही ग्रन्थ मे 'रासक' के दो-दो लक्षण देते हैं। भावप्रकाशकार ने पृष्ठ २६६ पर एक लक्षण दिया है और पृष्ठ २६९ पर दूसरा।

एक स्थान पर रासक नृत्य के दो रूप मसृण और उद्धत को हम भाव-प्रकाश मे इस प्रकार पाते हैं—

अनेक नर्त्तकी-योज्य चित्रताललयान्वितम् ।
आचतुष्षष्ठि युगलाद्रासक मसृणोद्धतम् ॥[1]

पृष्ठ २६९ पर उसे एक प्रकार का उपरूपक-सा स्वीकार कर लिया गया है, यद्यपि उसे उपरूपक नाम से अभिहित नही किया गया है।

लब्ध्वा दुग्धमहोदधौ सुरगणाः पीत्वामृत तस्तवा ॥
पिण्डीशृङ्खलिका विशेष विहितो युक्तो लताभेद्यकैः ।
चित्रातोद्यविचित्रितैर्लययुतो भेदद्वयालकृत
चारी खण्ड सुभण्डलैरनुगत सोऽयं मतो रासक ॥

इसी भावप्रकाश नामक ग्रन्थ मे 'रासक' का एक लक्षण इस प्रकार मिलता है—

षोडशद्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिका ।
पिण्डीबन्धादि विन्यासै रासकं तदुदाहृतम् ॥

प्रश्न उठता है कि एक ही ग्रन्थ मे तीन स्थानो पर रासक का लक्षण लिखने का कष्ट शारदातनय को क्यो उठाना पडा ? सम्भव है कि रासक को नृत्य, नाट्य और मध्य रूप मे देखकर ही उन्हे ऐसी परिभाषाए देनी पडी हो। अभिनव भारती (ग्यारहवी शताब्दी) मे रासक को नौ प्रकार के नृत्यो मे केवल एक नृत्य-प्रकार मान कर उसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

मण्डलेन तु यन्नृत्त हल्लीसकमिति स्मृतम् ।
एकैकस्तस्य नेता स्याद्गोपस्त्रीणा यथा हरिः ॥
अनेक नर्तकी योज्य चित्र ताल लयान्वितम् ।
आचतुष्षष्ठि युगलाद्रासक मसृणोद्धतम् ॥

अभिनव गुप्त तक रासक नृत्य मसृण और उद्धत दो भेदो मे बँट चुका था। 'भाव प्रकाश' मे जिन चार प्रकार के लास्य नृत्यो का वर्णन मिलता है उन

१ भावप्रकाश पृ० २६६ ।

के नाम हैं—शृङ्खला, लता, पिण्डी तथा भेद्यक। लता नृत्य भी तीन प्रकार के होते हैं—दण्डरासक, मण्डल रासक तथा नाट्यरासक। दण्डरासक के समान लगुट रासक का उल्लेख 'उपदेश रसायन रास'[1] मे मिलता है। भाव-प्रकाश (तेरहवी शताब्दी) तक आते-आते, उपरूपक रासक के अन्तर्गत निम्नलिखित विशेषताएँ आ गईं—१ एक पात्र २. सूत्रधार रहित ३ सुश्लिष्ट नान्दी ४ पांच पात्र ५ तीन सन्धियाँ ६ विभिन्न भाषाएँ ७ कैशिकी और भारती वृत्ति ८ वीथ्यङ्ग ९ प्रसिद्ध नायक १० प्रसिद्ध नायिका ११ उदात्त भाव।

साहित्य दर्पणकार ने रासक का लक्षण इस प्रकार बताया—

(१) पांच पात्र (२) मुख, प्रतिमुख, निर्वहण सन्धियाँ (३) विभिन्न भाषाएँ (४) भारती और कैशिकी वृत्ति (५) सूत्रधार रहित (६) एक अक (७) वीथ्यङ्ग (८) कला (९) श्लिष्ट नान्दी (१०) प्रसिद्ध नायिका (११) मुख्य या मूर्ख नायक (१२) उदात्त भाव। उदाहरण के रूप मे 'मेनकाहितम्' का नामोल्लेख है।

रासक के इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कालान्तर मे रासक के दो रूप हो गए—एक तो मूल नृत्य के ही रूप मे तद्वत् बना रहा, दूसरा विकसित होता हुआ उपरूपक की परिधि मे विराजमान हो गया। विकासोन्मुख रूप मे सर्व प्रथम नृत्य-सगीत के साथ अभिनय जोडा गया। तत्पश्चात् इसमे असम्बद्ध कथानक को स्थान मिला। विकास के तीसरे स्तर पर पहुँचते-पहुँचते इसमे वार्त्तालाप भी सयुक्त हो गया। अभिनवभारती और भावप्रकाश मे उपलब्ध लक्षणो से यह प्रतीत होता है कि कोई एक घटना गेय पदों के द्वारा अभिनीत हुआ करती थी। गेय पदो का गायन वाद्य-सहित होता था और उनका प्रदर्शन नृत्य के आधार पर वार्त्तालाप की सहायता से। यह कहना कठिन है कि सम्बद्ध कथानक और वार्त्तालाप मे प्रथम बार स्थान किसको मिला। सम्भव है कि सस्कृत-नाट्यकला से अभिज्ञ किसी पण्डित ने गीतो मे सुसम्बद्ध कथानक और वार्त्तालाप को साथ-साथ ही स्थान दिया हो, किन्तु इसका कोई प्रमाण मुझे अभी तक उपलब्ध नही हुआ। तात्पर्य यह कि एक ओर रासक नृत्य अपरिवर्त्तित रह कर केवल भावोत्पादक बना रहा, दूसरी ओर नाट्य का रूप धारण कर सामाजिक को रसास्वादन कराने मे समर्थ हो गया। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ (१४वी शताब्दी) तक आते-आते 'उन्मत्त-राघव' (प्रेक्षणक) दानकेलिकौमुदी (भाणिका) सुभद्राहरण (श्रीगदितम्) नामक उपरूपक इतने विकसित हो गए कि उन्होंने सामान्य रूपको के अनुरूप ही रूप

[1] विशेष परिचय के लिए राम और रामान्वयी काव्य का पृष्ठ ४३८ देखिए।

धारण कर लिया। इसी प्रकार रासक को भी उपरूपक की परिधि के अन्तर्गत आसन प्रदान करना पड़ा। उत्तर अपभ्रंश काल के उपलब्ध रासक इस तथ्य के प्रमाण हैं।

रासक और छन्द शास्त्र

विरहाङ्क ने अपभ्रंश के छन्दो का उल्लेख करते हुए 'रासक' और 'रासाबन्ध' काव्यो का लक्षण इस प्रकार दिया है—

वित्थारिअआणुमएणकुण। दुवई छन्दोणुमएव्व पुण।
इअ रासअ सुअणु मणोहरए। वेआरिअ समत्तक्खरए॥

अर्थात् कई द्विपदी विस्तारित जिनका अन्त विचारी छन्द के साथ हो अथवा जिसमे कई अडिल्ला, द्विपथ, मात्रा, रड्डा या ढोसा छन्द हो वह रासक कहलाता है।[1]

स्वयभू ने भी रासाबन्ध काव्य का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यह काव्य घत्ता, छप्पय, पद्धडी तथा विविध रूपको के कारण जनप्रिय बन गया है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि "पहले रासाप्रधानछन्द वैविध्य परक काव्य ग्रन्थो को 'रासाबन्ध' और 'रासक' कहा गया और बाद मे सभी छन्द वैविध्य परक काव्य 'रासक' कहलाने लगे।"[2]

अपभ्रंश काल के दो विभाग हैं—पूर्व अपभ्रंश काल और उत्तर अपभ्रंश काल। इस स्थान पर हम केवल उत्तर अपभ्रंश काल मे उपलब्ध रासक ग्रन्थो का उल्लेख करेंगे, क्योकि यह काल हमारी पुरानी हिन्दी के अधिक समीप है।

सर्व प्रथम हमे 'अम्बिकादेवी रास' (स० १०७६ वि०) का उल्लेख मिलता है, किन्तु यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में नहीं आया। तदुपरान्त मुकुट-सप्तमी रास एव माणिक्य-प्रस्तारिका नामक दो रासको का उद्धरण मिलता है। किन्तु ये दोनों रासक भी अभी तक अन्धकार मे पडे हैं। जिस ग्रन्थ मे इनका उल्लेख मिलता है उसकी रचना ११२८ वि० मे हुई थी। अत इससे पूर्व उक्त दोनो रासक जैनधर्मावलम्बियों के धर्म ग्रन्थ बन चुके थे।

उपलब्ध रासको मे 'उपदेशरसायन रासक' सर्व प्रथम माना जाता है।

---

१ अडिलाहिं दुवहएहिंव मत्तारड्डाहिं तह अ ढोसाहि।
बहुएहिं जो रइज्जई सो भण्णइ रासऊ णाम॥
वृत्तिजाति समुच्चय ४,३८

२ डा०माताप्रसाद गुप्त—हिन्दी साहित्य कोश पृ० ६५६

के नाम हैं—शृंखला, लता, पिण्डी तथा भेद्यक। लता नृत्य भी तीन प्रकार के होते हैं—दण्डरासक, मण्डल रासक तथा नाट्यरासक। दण्डरासक के समान लगुट रासक का उल्लेख 'उपदेश रसायन रास'[1] मे मिलता है। भाव-प्रकाश (तेरहवी शताब्दी) तक आते-आते, उपरूपक रासक के अन्तर्गत निम्नलिखित विशेषताएं आ गईं—१ एक पात्र २. सूत्राधार रहित ३ सुश्लिष्ट नान्दी ४ पांच पात्र ५ तीन सन्धियां ६. विभिन्न भाषाएँ ७ कैशिकी और भारती वृत्ति ८ वीथ्यङ्ग ९ प्रसिद्ध नायक १० प्रसिद्ध नायिका ११ उदात्त भाव।

साहित्य दर्पणकार ने रासक का लक्षण इस प्रकार वताया—

(१) पाँच पात्र (२) मुख, प्रतिमुख, निर्वहण सन्धियां (३) विभिन्न भाषाएँ (४) भारती और कैशिकी वृत्ति (५) सूत्रधार रहित (६) एक अक (७) वीथ्यङ्ग (८) कला (९) श्लिष्ट नान्दी (१०) प्रसिद्ध नायिका (११) मुख्य या मूर्ख नायक (१२) उदात्त भाव। उदाहरण के रूप मे 'मेनकाहितम्' का नामोल्लेख है।

रासक के इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कालान्तर मे रासक के दो रूप हो गए—एक तो मूल नृत्य के ही रूप मे तद्वत् वना रहा, दूसरा विकसित होता हुआ उपरूपक की परिधि मे विराजमान हो गया। विकासोन्मुख रूप मे सर्व प्रथम नृत्य-सगीत के साथ अभिनय जोडा गया। तत्पश्चात् इसमे असम्वद्ध कथानक को स्थान मिला। विकास के तीसरे स्तर पर पहुँचते-पहुँचते इसमे वार्त्तालाप भी सयुक्त हो गया। अभिनवभारती और भावप्रकाश मे उपलब्ध लक्षणो से यह प्रतीत होता है कि कोई एक घटना गेय पदो के द्वारा अभिनीत हुआ करती थी। गेय पदो का गायन वाद्य-सहित होता था और उनका प्रदर्शन नृत्य के आधार पर वार्त्तालाप की सहायता से। यह कहना कठिन है कि सम्वद्ध कथानक और वार्त्तालाप मे प्रथम वार स्थान किसको मिला। सम्भव है कि सस्कृत-नाट्यकला से अभिज्ञ किसी पण्डित ने गीतो मे सुसम्वद्ध कथानक और वार्त्तालाप को साथ-साथ ही स्थान दिया हो, किन्तु इसका कोई प्रमाण मुझे अभी तक उपलव्ध नही हुआ। तात्पर्य यह कि एक ओर रासक नृत्य अपरिवर्त्तित रह कर केवल भावोत्पादक वना रहा, दूसरी ओर नाट्य का रूप धारण कर सामाजिक को रसास्वादन कराने मे समर्थ हो गया। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ (१४वी शताब्दी) तक आते-आते 'उन्मत्त-राघव' (प्रेक्षणक) दानकेलिकौमुदी (भाणिका) सुभद्राहरण (श्रीगदितम्) नामक उपरूपक इतने विकसित हो गए कि उन्होंने सामान्य रूपको के अनुरूप ही रूप

धारण कर लिया। इसी प्रकार रासक को भी उपरूपक की परिधि के अन्तर्गत आसन प्रदान करना पड़ा। उत्तर अपभ्रंश काल के उपलब्ध रासक इस तथ्य के प्रमाण हैं।

रासक और छन्द शास्त्र

विरहाङ्क ने अपभ्रंश के छन्दों का उल्लेख करते हुए 'रासक' और 'रासाबन्ध' काव्यों का लक्षण इस प्रकार दिया है—

वित्थारिअआणुमएणकुण। दुवई छन्दोणुमएव्व पुण।
इअ रासअ सुअणु मणोहरए। वेआरिअ समत्तक्खरए॥

अर्थात् कई द्विपदी विस्तारित जिनका अन्त विचारी छन्द के साथ हो अथवा जिसमें कई अडिल्ला, द्विपथ, मात्रा, रड्डा या ढोसा छन्द हो वह रासक कहलाता है।[1]

स्वयंभू ने भी रासाबन्ध काव्य का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यह काव्य घत्ता, छप्पय, पद्धड़ी तथा विविध रूपकों के कारण जनप्रिय बन गया है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि "पहले रासाप्रधानछन्द वैविध्य परक काव्य ग्रन्थों को 'रासाबन्ध' और 'रासक' कहा गया और बाद में सभी छन्द वैविध्य परक काव्य 'रासक' कहलाने लगे।"[2]

अपभ्रंश काल के दो विभाग हैं—पूर्व अपभ्रंश काल और उत्तर अपभ्रंश काल। इस स्थान पर हम केवल उत्तर अपभ्रंश काल में उपलब्ध रासक ग्रन्थों का उल्लेख करेंगे, क्योंकि यह काल हमारी पुरानी हिन्दी के अधिक समीप है।

सर्व प्रथम हमें 'अम्बिकादेवी रास' (सं० १०७६ वि०) का उल्लेख मिलता है, किन्तु यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में नहीं आया। तदुपरान्त मुकुट-सप्तमी रास एवं माणिक्य-प्रस्तारिका नामक दो रासकों का उद्धरण मिलता है। किन्तु ये दोनों रासक भी अभी तक अन्धकार में पड़े हैं। जिस ग्रन्थ में इनका उल्लेख मिलता है उसकी रचना ११२८ वि० में हुई थी। अतः इससे पूर्व उक्त दोनों रासक जैनधर्मावलम्बियों के धर्म ग्रन्थ बन चुके थे।

उपलब्ध रासकों में 'उपदेशरसायन रासक' सर्व प्रथम माना जाता है।

---

१ अडिलाहिं दुवहएहिंव मत्तारड्डाहिं तह अ ढोसाहि।
बहुएहिं जो रइज्जइ सो भण्णइ रासओ णाम॥
वृत्तिजाति समुच्चय ४,३८

२ डा० माताप्रसाद गुप्त—हिन्दी साहित्य कोश पृ० ६५६

तेरहवी शताब्दी के अनेक धार्मिक रासक और एक पार्थिव प्रेमसम्बन्धी-सन्देश रासक प्राप्त होता है। आश्चर्य तो यह है कि इसका रचयिता मूल स्थान (मुल्तान) निवासी एक मुसलमान अब्दुल रहमान है। इस शताब्दी मे शालिभद्र सूरि नामक जैन मुनि ने 'भरतेश्वर बाहुबली रास', 'बुद्धिरास' और 'हित-शिक्षाप्रबुद्ध' नामक रासो की रचना की और विजयसेन सूरि ने १२८७ वि० मे 'हेवन्तगिरी' रास बनाया।

विक्रम की चौदहवी शताब्दी मे विनयचन्द सूरि कृत 'नेमिनाथचतुष्पदिका' अज्ञात कवि कृत 'सप्तक्षेत्रि रास', सोममूर्त्ति कृत 'जिनेश्वर सूरि दीक्षा' 'विवाह वर्णना रास', अभयदेव सूरि कृत 'समरा रासो' अत्यन्त प्रसिद्ध है।

रासककार मुनियो एव कवियो का ध्यान मुख्य रूप से अर्द्ध शिक्षित जनता तक अपने जीवन का अनुभव पहुँचाना था। एक स्थान पर गेय रास की रचना का उद्देश्य लिखते हुए धर्मबिन्दुवृत्ति नामक ग्रन्थ मे लिखा है—

बालस्त्रीमूढमूर्खाणा नृणा चारित्रकांक्षिणा।
अनुग्रहार्थं सर्वज्ञै सिद्धान्त प्राकृत कृत ॥

अत रासकारो ने देश के विपत्तिकाल मे जनता से सम्पर्क स्थापित कर उनकी रुचि को परिमार्जित, सहन शक्ति को दृढ और उन्हे विरोधियो के सम्मुख खडा होने मे सक्षम बनाया। रास का उद्देश्य और विषयो का वर्गीकरण इस प्रकार है—

उद्देश्य—

(१) बाल, स्त्री और मूर्ख के लिए शिक्षाप्रद मनोरजन उपस्थित करना,
(२) उपदेश मुख्य उद्देश्य था किन्तु भौतिक जीवन से असपृक्त होकर नही,
(३) उपदेश मे कथा तत्त्व मिलता गया,
तथा (४) चरित्र-सकीर्त्तन रास का मुख्य उद्देश्य बनता गया।

विषय विभाजन—

(क) ऋषभदेव, नेमिनाथ, महावीर, जम्बुस्वामी, गौतम स्वामी, स्थूलिभद्र, आदि केवल ज्ञानी का वर्णन।
(ख) राजवशी जैन साधुओ के चरित्र—वस्तुपाल, तेजपाल, समरसिंह, पेथड के जगडू जेवा, जैन श्रेष्ठिओ का जीवन चरित्र
(ग) कोई श्रेष्ठी तीर्थयात्रा मे सघ रचना करे तो उसका वर्णन,
(घ) केवल तीर्थो का माहात्म्य—आबू रास, गिरिनार रास,
(न) जैन रामायण और जैन महाभारत के पात्रो का रास,

(छ) जैन धर्म के माहात्म्य से प्रभावित व्यक्तियो का चरित्र,

(ज) तीर्थों, मन्दिरो के उद्धारक दानी सेठ शान्तिदास का रास, तीन पीढी तक (अकबर से औरगजेव) के बादशाहो पर निर्मित रास,

(झ) काल्पनिक कहानी (ऐतिहासिक नाम मात्र) जैसे शीलवतीनो राम—तथा भूत प्रेत, चमत्कार, जादू-मत्र की महिमा,

(ट) कुवलयमाला कथा (सस्कृत) का आधार लेकर सीमधर राम—

पात्र—क्रोध, मान, माया लोभ, चडसोम, मानभट,लोभदेवी।

राग—आशावरी, काशी, केदार, धन्याश्री, देशाप, मल्लार सामेरी, सारग आदि राग रागिणिया।

नाटक : प्रेक्ष्य और पाठ्य

शताब्दियो से विरचित होने वाले हिन्दी-नाट्य-साहित्य को रगमच की दृष्टि से दो भागो मे विभाजित किया जाता है। अधिकाश नाटको को रगमच के अनुपयुक्त समझकर पाठ्य नाटको की कोटि मे रखा जाता है और अल्प-सख्यक को अभिनेय मानकर प्रेक्ष्य नाटको की श्रेणी मे स्वीकार किया जाता है। सभी नाटको का परीक्षण रगमच पर सम्भव नही और परीक्षण बिना किसी नाटक को अभिनेय कहना उचित भी नही। अत किसी-न-किसी सिद्धान्त का अनुसन्धान करना होगा, जिसके आधार पर किसी नाटक को प्रेक्ष्य या पाठ्य माना जा सके।

उन्ही नाटको को अभिनेय स्वीकार किया जाता है, जिनमे अभिनेता को अभिनय कला के प्रदर्शन का अवकाश मिलता है। भरत मुनि अभिनय की व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं[1]—

अभिपूर्वस्तु णीञ् धातुराभिमुख्यार्थनिर्णये।
यस्मात्प्रयोग नयति तस्मादभिनय स्मृत ॥
विभावयति यस्माच्च मानार्थान्हि प्रयोगत।
शाखागोपागसयुक्तस्तस्मादभिनय स्मृत ॥

अभि के साथ 'णी' धातु का अर्थ है सामने ले जाना। अभिनय का अर्थ है नाटक के प्रयोग मे (शाखा, अग, उपाग के सहित) नाटक के पूरे भाग को प्रेक्षक के सम्मुख ले जाना। अभिनेता आगिक (Gestures), वाचिक (Words), आहार्य (Dresses and Make-up), सात्विक (Temperamental) चार प्रकार के अभिनय द्वारा नाटक के तात्पर्य को प्रेक्षक के सम्मुख पहुँचाता है। अत जिन नाटक के प्रयोग मे अभिनेता को इन अभिनय प्रकारो के उपयोग का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है वह प्रेक्ष्य नाटक कहलाता है। इसके विपरीत जिनमे केवल वाचिक अभिनय का प्राधान्य हो, उसे पाठ्य नाटक

[1] नाट्य शास्त्र, अध्याय ८, श्लोक ६ ७।

समझा जाता है।

प्रेक्ष्य और पाठ्य नाटक मे अन्तर

प्रेक्ष्य और पाठ्य नाटक मे स्पष्ट अन्तर आकार का होता है। प्रेक्ष्य नाटक के कथानक का विस्तार दर्शक की रुचि के अनुसार होता है, किन्तु पाठ्य नाटक मे पाठक की रुचि का ध्यान रखा जाता है। दर्शक एक स्थिति मे चार-छह घण्टे से अधिक बैठकर नाटक देखने का धैर्य धारण नही कर सकता। वह कथानक का परिणाम जानने और नाटक का अन्तिम अश देखने के लिए आकुल हो उठता है। अत. नाटको का विस्तार निश्चित मर्यादा के अन्तर्गत होता है। इसके विपरीत पाठ्य नाटको को एक वार मे ही समाप्त करना आवश्यक नहीं होता। अग्रेजी, सस्कृत और हिन्दी के कतिपय नाटक द्रुतगति से भी पढने पर अनेक दिनो मे समाप्त होते हैं। इस बीसवीं शताब्दी में भी स्विनबर्न (Swinburne) ने तीन-तीन-सौ पृष्ठों मे नाटक लिखे। अनर्घराघव, विदग्ध माधव आदि सस्कृत मे, रामायण महानाटक, हनुमन्नाटक हिन्दी मे इसी प्रकार के नाटक हैं।

दूसरा अन्तर कथानक के प्रकार का है। जिस प्रकार तैलचित्र और वाटरकलर के लिए अलग-अलग दृश्य उपयुक्त माने जाते हैं, उसी प्रकार प्रेक्ष्य और पाठ्य नाटको के कथानक पृथक्-पृथक् होते हैं। वे धार्मिक कथानक जिनमे श्रद्धा की सीमा असीम बनानी पडती है, पाठ्य नाटको के ही उपयुक्त होते हैं प्रेक्ष्य के योग्य नही। राम और कृष्ण के जीवन की अलौकिक घटनाओ को देखकर श्रद्धालु भक्त भले ही प्रसन्न हो किन्तु बुद्धिवादी ऐसे दृश्यो से प्रभावित नही हो सकता। किन्तु पाठ्य नाटको मे ऐसे दृश्य-विधान क्षम्य हैं और वे पाठक को रसास्वादन कराने मे बाधक नही सिद्ध होते।

तीसरा अन्तर है वस्तु-सघटन का। प्रेक्ष्य नाटको मे पात्र दीर्घकाल तक किसी विषय के वर्णन अथवा विवेचन में लिप्त नही रह सकते। दर्शक वर्णन की अपेक्षा पात्रो के क्रिया-कलाप से अधिक प्रभावित होता है। वह पात्रो का चरित्र उनकी क्रिया से परखना चाहता है उसके अलकृत वर्णन से नही। किन्तु प्रेक्ष्य नाटको मे अलकृत वर्णन एव काव्य-सौष्ठव का अपना महत्त्व है। ऐसे वर्णन पाठक को रसास्वादन कराने मे सहायक होते हैं।

पाँचवाँ अन्तर है पात्रो की वक्तृता का। प्रेक्ष्य नाटक के दर्शक सश्लिष्ट एव भाव-व्यजक-भाषा मे तीर की तरह चुभने वाले छोटे-छोटे वाक्यो को सुनना चाहता है, वह लम्बी वक्तृता के पूर्वापर प्रसग को स्मरण रखने का भार

नाटक : प्रेक्ष्य और पाठ्य

शताब्दियो से विरचित होने वाले हिन्दी-नाट्य-साहित्य को रगमच की दृष्टि से दो भागो मे विभाजित किया जाता है। अधिकाश नाटको को रगमच के अनुपयुक्त समझकर पाठ्य नाटको की कोटि मे रखा जाता है और अल्प-सख्यक को अभिनेय मानकर प्रेक्ष्य नाटको की श्रेणी मे स्वीकार किया जाता है। सभी नाटको का परीक्षण रगमच पर सम्भव नही और परीक्षण बिना किसी नाटक को अभिनेय कहना उचित भी नही। अत किसी-न-किसी सिद्धान्त का अनुसन्धान करना होगा, जिसके आधार पर किसी नाटक को प्रेक्ष्य या पाठ्य माना जा सके।

उन्ही नाटको को अभिनेय स्वीकार किया जाता है, जिनमे अभिनेता को अभिनय कला के प्रदर्शन का अवकाश मिलता है। भरत मुनि अभिनय की व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं[1]—

अभिपूर्वस्तु णीञ् धातुराभिमुख्यार्थनिर्णये।
यस्मात्प्रयोग नयति तस्मादभिनय स्मृत ॥
विभावयति यस्माच्च मानार्थान्हि प्रयोगत।
शाखागोपागसयुक्तस्तस्मादभिनय स्मृत ॥

अभि के साथ 'णी' धातु का अर्थ है सामने ले जाना। अभिनय का अर्थ है नाटक के प्रयोग मे (शाखा, अग, उपाग के सहित) नाटक के पूरे भाग को प्रेक्षक के सम्मुख ले जाना। अभिनेता आगिक (Gestures), वाचिक (Words), आहार्य (Dresses and Make-up), सात्विक (Temperamental) चार प्रकार के अभिनय द्वारा नाटक के तात्पर्य को प्रेक्षक के सम्मुख पहुँचाता है। अत जिन नाटक के प्रयोग मे अभिनेता को इन अभिनय प्रकारो के उपयोग का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है वह प्रेक्ष्य नाटक कहलाता है। इसके विपरीत जिनमे केवल वाचिक अभिनय का प्राधान्य हो, उसे पाठ्य नाटक

[1] नाट्यशास्त्र, अध्याय ८, श्लोक ६ ७।

समझा जाता है।

प्रेक्ष्य और पाठ्य नाटक मे अन्तर

प्रेक्ष्य और पाठ्य नाटक मे स्पष्ट अन्तर आकार का होता है। प्रेक्ष्य नाटक के कथानक का विस्तार दर्शक की रुचि के अनुसार होता है, किन्तु पाठ्य नाटक मे पाठक की रुचि का ध्यान रखा जाता है। दर्शक एक स्थिति मे चार-छह घण्टे से अधिक बैठकर नाटक देखने का धैर्य धारण नही कर सकता। वह कथानक का परिणाम जानने और नाटक का अन्तिम अश देखने के लिए आकुल हो उठता है। अत नाटको का विस्तार निश्चित मर्यादा के अन्तर्गत होता है। इसके विपरीत पाठ्य नाटको को एक बार मे ही समाप्त करना आवश्यक नही होता। अग्रेजी, सस्कृत और हिन्दी के कतिपय नाटक द्रुतगति से भी पढने पर अनेक दिनो में समाप्त होते हैं। इस बीसवी शताब्दी मे भी स्विनबर्न (Swinburne) ने तीन-तीन-सौ पृष्ठो मे नाटक लिखे। अनर्घराघव, विदग्ध माधव आदि सस्कृत मे, रामायण महानाटक, हनुमन्नाटक हिन्दी मे इसी प्रकार के नाटक हैं।

दूसरा अन्तर कथानक के प्रकार का है। जिस प्रकार तैलचित्र और वाटरकलर के लिए अलग-अलग दृश्य उपयुक्त माने जाते हैं, उसी प्रकार प्रेक्ष्य और पाठ्य नाटको के कथानक पृथक्-पृथक् होते हैं। वे धार्मिक कथानक जिनमे श्रद्धा की सीमा असीम बनानी पडती है, पाठ्य नाटको के ही उपयुक्त होते हैं प्रेक्ष्य के योग्य नही। राम और कृष्ण के जीवन की अलौकिक घटनाओ को देखकर श्रद्धालु भक्त भले ही प्रसन्न हो, किन्तु बुद्धिवादी ऐसे दृश्यो से प्रभावित नही हो सकता। किन्तु पाठ्य नाटको में ऐसे दृश्य-विधान क्षम्य है और वे पाठक को रसास्वादन कराने मे बाधक नही सिद्ध होते।

तीसरा अन्तर है वस्तु-सघटन का। प्रेक्ष्य नाटको मे पात्र दीर्घकाल तक किसी विषय के वर्णन अथवा विवेचन मे लिप्त नही रह सकते। दर्शक वर्णन की अपेक्षा पात्रो के क्रिया-कलाप से अधिक प्रभावित होता है। वह पात्रो का चरित्र उसकी क्रिया से परखना चाहता है उसके अलकृत वर्णन से नही। किन्तु प्रेक्ष्य नाटको मे अलकृत वर्णन एव काव्य-सौष्ठव का अपना महत्त्व है। ऐसे वर्णन पाठक को रसास्वादन कराने मे सहायक होते हैं।

पाँचवां अन्तर है पात्रो की वक्तृता का। प्रेक्ष्य नाटक के दर्शक सश्लिष्ट एव भाव-व्यजक-भाषा मे तीर की तरह चुभने वाले छोटे-छोटे वाक्यो को सुनना चाहता है, वह लम्बी वक्तृता के पूर्वापर प्रसग को स्मरण रखने का भार

नाटक : प्रेक्ष्य और पाठ्य

शताब्दियो से विरचित होने वाले हिन्दी-नाट्य-साहित्य को रगमच की दृष्टि से दो भागो मे विभाजित किया जाता है। अधिकाश नाटको को रगमच के अनुपयुक्त समझकर पाठ्य नाटको की कोटि मे रखा जाता है और अल्प-सख्यक को अभिनेय मानकर प्रेक्ष्य नाटको की श्रेणी मे स्वीकार किया जाता है। सभी नाटको का परीक्षण रगमच पर सम्भव नही और परीक्षण बिना किसी नाटक को अभिनेय कहना उचित भी नही। अत किसी-न-किसी सिद्धान्त का अनुसन्धान करना होगा, जिसके आधार पर किसी नाटक को प्रेक्ष्य या पाठ्य माना जा सके।

उन्ही नाटको को अभिनेय स्वीकार किया जाता है, जिनमे अभिनेता को अभिनय कला के प्रदर्शन का अवकाश मिलता है। भरत मुनि अभिनय की व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं[1]—

अभिपूर्वस्तु णीञ् धातुराभिमुख्यार्थनिर्णये।
यस्मात्प्रयोग नयति तस्मादभिनय स्मृत ॥
विभावयति यस्माच्च मानार्थान्हि प्रयोगत।
शाखागोपागसयुक्तस्तस्मादभिनय स्मृत ॥

अभि के साथ 'णी' धातु का अर्थ है सामने ले जाना। अभिनय का अर्थ है नाटक के प्रयोग मे (शाखा, अग, उपाग के सहित) नाटक के पूरे भाग को प्रेक्षक के सम्मुख ले जाना। अभिनेता आगिक (Gestures), वाचिक (Words), आहार्य (Dresses and Make-up), सात्विक (Temperamental) चार प्रकार के अभिनय द्वारा नाटक के तात्पर्य को प्रेक्षक के सम्मुख पहुँचाता है। अत जिस नाटक के प्रयोग मे अभिनेता को इन अभिनय प्रकारो के उपयोग का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है वह प्रेक्ष्य नाटक कहलाता है। इसके विपरीत जिसमे केवल वाचिक अभिनय का प्राधान्य हो, उसे पाठ्य नाटक

---

1 नाट्य शास्त्र, अध्याय ८, श्लोक ६ ७।

समझा जाता है ।

प्रेक्ष्य और पाठ्य नाटक में अन्तर

प्रेक्ष्य और पाठ्य नाटक मे स्पष्ट अन्तर आकार का होता है । प्रेक्ष्य नाटक के कथानक का विस्तार दर्शक की रुचि के अनुसार होता है, किन्तु पाठ्य नाटक मे पाठक की रुचि का ध्यान रखा जाता है । दर्शक एक स्थिति मे चार-छह घण्टे से अधिक बैठकर नाटक देखने का धैर्य धारण नहीं कर सकता । वह कथानक का परिणाम जानने और नाटक का अन्तिम अश देखने के लिए आकुल हो उठता है । अत नाटको का विस्तार निश्चित मर्यादा के अन्तर्गत होता है । इसके विपरीत पाठ्य नाटको को एक बार मे ही समाप्त करना आवश्यक नही होता । अग्रेजी, सस्कृत और हिन्दी के कतिपय नाटक द्रुतगति से भी पढने पर अनेक दिनो मे समाप्त होते हैं । इस बीसवी शताब्दी मे भी स्विनबर्न (Swinburne) ने तीन-तीन-सौ पृष्ठों मे नाटक लिखे । अनर्घराघव, विदग्ध माधव आदि सस्कृत मे, रामायण महानाटक, हनुमन्नाटक हिन्दी मे इसी प्रकार के नाटक हैं ।

दूसरा अन्तर कथानक के प्रकार का है । जिस प्रकार तैलचित्र और वाटरकलर के लिए अलग-अलग दृश्य उपयुक्त माने जाते हैं, उसी प्रकार प्रेक्ष्य और पाठ्य नाटको के कथानक पृथक्-पृथक् होते हैं। वे धार्मिक कथानक जिनमे श्रद्धा की सीमा असीम बनानी पडती है, पाठ्य नाटको के ही उपयुक्त होते हैं प्रेक्ष्य के योग्य नही । राम और कृष्ण के जीवन की अलौकिक घटनाओ को देखकर श्रद्धालु भक्त भले ही प्रसन्न हो, किन्तु बुद्धिवादी ऐसे दृश्यो से प्रभावित नही हो सकता । किन्तु पाठ्य नाटको मे ऐसे दृश्य-विधान क्षम्य है और वे पाठक को रसास्वादन कराने मे बाधक नही सिद्ध होते ।

तीसरा अन्तर है वस्तु-सघटन का । प्रेक्ष्य नाटको मे पात्र दीर्घकाल तक किसी विषय के वर्णन अथवा विवेचन मे लिप्त नहीं रह सकते । दर्शक वर्णन की अपेक्षा पात्रो के क्रिया-कलाप से अधिक प्रभावित होता है । वह पात्रो का चरित्र उसकी क्रिया से परखना चाहता है उसके अलकृत वर्णन से नही । किन्तु प्रेक्ष्य नाटको मे अलकृत वर्णन एव काव्य-सौष्ठव का अपना महत्त्व है । ऐसे वर्णन पाठक को रसास्वादन कराने मे सहायक होते हैं ।

पांचवां अन्तर है पात्रो की वक्तृता का । प्रेक्ष्य नाटक के दर्शक सश्लिष्ट एव भाव-व्यजक-भाषा मे तीर की तरह चुभने वाले छोटे-छोटे वाक्यो को सुनना चाहता है, वह लम्बी वक्तृता के पूर्वापर प्रसग को स्मरण रखने का भार

उठाना नही चाहता। किन्तु पाठ्य नाटको मे लम्बी वक्तृता, स्वगत भा
आकाशभाषित का प्रभाव पडता है। सक्षेप मे इन दोनो का अन्तर दि
हुए प्रो० वीयर्स पाठ्य नाटको की विशेषता के विषय मे लिखते हैं—

"It may afford," he reasons, "what the acted play
forego—ornate description, passage of deep reflection, a lag
movement, and mere declamation"

यदि पाठ्य नाटको की तुलना प्रेक्ष्य नाटक, काव्य या उपन्यास
जाय तो यह कहा जा सकता है कि पाठ्य नाटको का दृश्य-विधान एव कथ
कथन तो प्रेक्ष्य नाटको की पद्धति के अनुसार होता है किन्तु उनका कथ
एव घटना-विकास काव्य एव उपन्यास की शैली के अधिक समीप पहुँचत
अर्थात् जहाँ पाठ्य नाटको की दक्षिण भुजा प्रेक्ष्य नाटको की परिधि स्पर्श क
है वहाँ उसका वाम हस्त काव्य एव उपन्यास की ओर बढता जाता है।
न तो पूर्णतया प्रेक्ष्य नाटको का चित्र बना सकता है और न ही काव्य
उपन्यास को स्पर्श कर पाता है। यह अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाने का पक्ष
है। यह दोनो के मध्य मे रहता हुआ भी दोनों से पृथक् है।

अब प्राचीन आचार्यों के मत से पाठ्य नाटको एव प्रेक्ष्य नाटक
विवेचन भी कर लेना उचित होगा। यद्यपि नाटको मे अनेक कलाओ
समावेश होता है, किन्तु काव्य और अभिनय कला को प्रमुखता दी गयी
देखना यह है कि नाटको मे इन दोनो मे उच्चतर स्थान किसको दिया
है। अरिस्टाटल ने ट्रेजेडी का मूल्याकन मूलत साहित्यिक रचना के आ
पर किया है। वे अभिनेय गुणो को निम्न स्थान प्रदान करते हैं। पोइ
की व्याख्या करते हुए स्काटजेम्स ने एक स्थान पर लिखा है—

1 He has examined Tragedy from the literary n
point of view—rather as dramatic poetry than as poetic dram

2 (Aristotle) taught the intellectual world to thin
drama as an almost exclusively literary thing

भरत के नाट्यशास्त्र और भोज के शृगार प्रकाश के नाट्य सि
की तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सस्कृत नाटक प्रारम्भ मे व
गुण एव अभिनय गुण दोनो से सम्पन्न होते थे, किन्तु बारहवी-तेरहवी शत
तक आते-आते वे मुख्यत पाठ्य बन गये।

भरत मुनि ने नाटको की रचना के लिए विचारणीय विषयों पर वि
करते हुए लिखा—

मृदु-ललित - पदाढ्यं - गूढ - शब्दार्थ - हीन-
जन-पद-सुख-बोध्यं युक्तिमन्नृत्य - योज्यं,
बहुकृत रसमार्गं सन्धि - सन्धान - युक्तं
भवति जगतियोग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ।

[अर्थात् वह नाटक दर्शको के सम्मुख अभिनेय बनता है, जिसके शब्दों मे मार्दव और लालित्य हो, जिसके शब्द गूढार्थ और क्लिष्टार्थ से रहित हो, जो जनपद के भी सरलतापूर्वक समझने योग्य हो, जिसका अभिनय नृत्य के आधार पर किया जा सके। विविध पात्रो के द्वारा जिसमे रस का परिपाक किया जा सके, जो सन्धि-सधान-सयुक्त हो।]

उक्त लक्षणो से समन्वित नाटक नृत्य-सगीत के बल पर जनता को रुचिकर और बोधगम्य होते थे, किन्तु कालान्तर मे जब वे केवल विद्वानो और अभिजात वर्ग के परिवार वालो तक सीमित हो गये तो जन-रुचि की क्रमश उपेक्षा होने लगी। नाट्यकारो ने भरत के 'सन्धि-सधानयुक्त, बहुकृत रस मार्ग' को इतना महत्त्व दिया कि 'जनपद सुखबोध्य', 'गूढशब्दार्थ-हीन' की भावना विस्मृत होती चली गयी। भरत-काल तक नाटको को रगमच के अनुकूल बनाने का ऐसा प्रयास होता रहा, जिससे नाट्य-कला का आनन्द सामान्य जनता को भी प्राप्त हो सके, किन्तु बडे-बडे विद्वानो के हाथ मे आने और अभिनयशाला को अभिजात वर्ग तक सीमित करने के कारण सस्कृत नाटक का अभिनय-क्षेत्र निरन्तर सकीर्ण बनता गया। सस्कृत-नाटको का अभिनय-क्षेत्र इतना सीमित हो गया कि सस्कृत के दिग्गज विद्वान् भी अभिनय की विशेषताओ की उपेक्षा करते हुए ऐसे पाठ्य नाटक रचने लगे, जिनको एकान्त मे ही पढकर काव्यशास्त्र के सदृश रसास्वादन किया जा सकता था। सस्कृत के रामायण महानाटक, हनुमन्नाटक, अनर्घराघव, विदग्ध माधव आदि अनेक वृहत्काय नाटक कदाचित् ही रगमच पर सफलता के साथ अभिनीत हुए हो। डॉ० राघवन का मत है कि इनका गायन मात्र होता था, अभिनय नहीं। और गायन भी खण्डश होता रहा। सम्पूर्ण नाटक का एक साथ नही।

हिन्दी का जिस समय आविर्भाव हुआ उस समय सस्कृत मे पाठ्य नाटको का ही प्रचार था। जब राजे-महाराजे भी सस्कृत से अनभिज्ञ होने के कारण सस्कृत नाटको का रसास्वादन करने मे असमर्थ हो गए और मुसलमानो के आक्रमण के उपरान्त अभिनेय नाटको की श्रीवृद्धि सर्वथा रुक गई तो ऐसी स्थिति मे सस्कृत के विद्वान् स्वान्त सुखाय एव सरस्वती की उपासना के निमित्त पाठ्य नाटको के सृजन मे ही सन्तुष्ट होने लगे। पाठको की अधिकाश रुचि

ड्राइटन तो यही कहते थे कि जब मेरे नाटक पाठको को आनन्द प्रदान कर सकेंगे तभी मैं अपनी रचना को उत्तम और चिरजीवी समझूँगा । वालटेयर (Voltaire) का मत है कि "What has the stage decoration to do with the merit of the poem ? If the success depends on what strikes the eyes we might as well have moving pictures "

इसी प्रकार 'पोइटिक्स' के सिद्धान्तो का विश्लेषण करते हुए पाई (Pay) लिखते है—

"Good tragedy effects us as forcibly even while read in a room "

जर्मन आलोचक लेसिंग का मत है कि "There is no real relation between elaborate scenery or splendid theatrical edifices and great drama itself "

इतना ही नही लैम्ब तो यहाँ तक दावा करते हैं कि उच्चकोटि के नाटक का अभिनय सम्भव है ही नही—

"A masterpiece is rarely as well represented as it is written, mediocrity always fares better with the actors "

उच्चकोटि का नाटक जिस सौष्ठव के साथ विरचित होता है उस सौन्दर्य के साथ अभिनीत हो ही नही सकता । मध्यमकोटि के नाटक ही रग-मच पर पात्रो की कला-कुशलता के द्वारा रम्य बनते हैं ।

समालोचको का दूसरा वर्ग भी है जो उक्त मत से सहमत नही । इटली के प्रसिद्ध विद्वान् 'लोडोविको कैसेलवेटो' (Lodovico Casleveto) ने सन् १५७० ई० मे आसद के सम्बन्ध मे दो बातें लिखी—"यद्यपि ट्रेजेडी का प्रभाव पठन-काल मे भी उतना ही पडता है जितना अभिनय काल मे, किन्तु एक अन्तर अवश्य है । रगमच पर अभिनय के समय विद्वान् और मूर्ख दोनो ट्रेजेडी से प्रभावित होते है किन्तु श्रवण या पठनकाल मे केवल विद्वानो पर ही प्रभाव पडता है ।"

(२) नाटक एकमात्र रगमच के उद्देश्य से लिखा जाना चाहिए । यही उसका व्यावर्तक धर्म है ।

यूरोप का एक प्रसिद्ध नाटककार ग्रिलपार्जर (Grillparger) पाठ्य नाटको की तीव्र आलोचना करते हुए लिखता है कि वह रचना नाटक की सज्ञा पाने की अधिकारिणी नहीं, जो रगमच पर अभिनय के उद्देश्य से न लिखी गयी हो ।

डाइडेटोर्ट (Didetort) नामक एक आलोचक का मत है कि नाटक का मूल अश नाट्यकार की रचना नही, वह तो अभिनेता की कला है।—

"The essential part of the play was not created by the poet at all, but was created by the actor"

यह तो पश्चिमीय मत हुआ। भारतीय मत इसके सर्वथा विरुद्ध है। हमारे भारतीय आचार्य कवि और अभिनेता मे कवि को नाटक के लिए अधिक महत्ता प्रदान करते हैं—

"अतोऽभिनेतृम्य कविमेव बहुमन्यामहे,
अभिनयेभ्यश्च काव्यमेवेति।" (भोज)

उक्त विद्वानो के मत की समीक्षा करने पर भी हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते, क्योकि दोनो पक्ष समान रूप से प्रबल है। दोनो के तर्क मे सार है। दोनो मत एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। यदि एक पाठ्य-नाटक को स्थायी साहित्य मानता है तो दूसरा उसे नाटकेतर साहित्य कहता है। एक नाटक के काव्य-तत्त्व को प्रधान और अभिनय-तत्त्व को गौण मानता है तो दूसरा अभिनय को ही सर्वस्व समझता है और काव्य-तत्त्व को नगण्य। ऐसी दशा मे दोनो का सामञ्जस्य कैसे सम्भव है ? तथा पाठ्य और प्रेक्ष्य नाटको मे किसे श्रेष्ठ माना जाय ? स्थायी साहित्य मे किसे परिगणित किया जाय ? ये समस्याएँ अन्ततोगत्वा उलझती ही हैं।

यदि एक प्रश्न सुलझ जाय कि रगमच की सफलता का प्रमाण क्या, तो इन समस्याओ के सुलझाने मे सहायता मिले। सामान्य रीति से कहा जाता है कि जो रचना अधिक-से-अधिक दर्शको को आकर्षित करे वही सफल मानी जायगी। इस कसौटी पर कसने से प्रसाद के चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु नाटक तो नाटक माने ही नही जा सकते। एक वार काशी विश्वविद्यालय के छात्रो और अध्यापको ने वडे प्रयास के साथ चन्द्रगुप्त नाटक खेला। उसे देखने के लिए पर्याप्त सख्या मे दर्शक आये। किन्तु ज्यो-ज्यो समय वीतता गया लोग क्रमश खिसकते गए। अन्तिम दृश्य को देखने के लिए प० केशवप्रसाद मिश्र, रायकृष्णदास और प्रसादजी रह गये। ठीक इसके विपरीत जी० पी० श्रीवास्तव, आगा हश्र आदि नाट्यकारो के नाटको के लिए वडी सख्या मे दर्शक अन्त तक डटे रहते हैं। गाँवो मे स्वाँग नाटको के दर्शको का क्या कहना ? सहस्रो व्यक्ति रात-रात भर नाटक का आनन्द लेते हैं। तो क्या इन नाटको को प्रसाद के नाटको से श्रेष्ठ मानना चाहिए ?

अब यदि यह मान लिया जाय कि नाटक के स्थायित्व के लिए रगमच

ड्राइडन तो यही कहते थे कि जब मेरे नाटक पाठको को आनन्द प्रदान कर सकेंगे तभी मैं अपनी रचना को उत्तम और चिरजीवी समझूँगा। वालटेयर (Voltaire) का मत है कि "What has the stage decoration to do with the merit of the poem? If the success depends on what strikes the eyes we might as well have moving pictures"

इसी प्रकार 'पोइटिक्स' के सिद्धान्तो का विश्लेषण करते हुए पाई (Pay) लिखते हैं—

"Good tragedy effects us as forcibly even while read in a room"

जर्मन आलोचक लेसिंग का मत है कि "There is no real relation between elaborate scenery or splendid theatrical edifices and great drama itself"

इतना ही नही लैम्ब तो यहाँ तक दावा करते हैं कि उच्चकोटि के नाटक का अभिनय सम्भव है ही नही—

"A masterpiece is rarely as well represented as it is written, mediocrity always fares better with the actors"

उच्चकोटि का नाटक जिस सौष्ठव के साथ विरचित होता है उस सौन्दर्य के साथ अभिनीत हो ही नही सकता। मध्यमकोटि के नाटक ही रगमच पर पात्रो की कला-कुशलता के द्वारा रम्य बनते हैं।

समालोचको का दूसरा वर्ग भी है जो उक्त मत से सहमत नहीं। इटली के प्रसिद्ध विद्वान् 'लोडोविको कैसेलवेटो' (Lodovico Casleveto) ने सन् १५७० ई० मे आसद के सम्बन्ध मे दो बातें लिखी—"यद्यपि ट्रेजेडी का प्रभाव पठन-काल मे भी उतना ही पडता है जितना अभिनय काल मे, किन्तु एक अन्तर अवश्य है। रगमच पर अभिनय के समय विद्वान् और मूर्ख दोनो ट्रेजेडी से प्रभावित होते है किन्तु श्रवण या पठनकाल मे केवल विद्वानो पर ही प्रभाव पडता है।"

(२) नाटक एकमात्र रगमच के उद्देश्य से लिखा जाना चाहिए। यही इनका व्यावर्तक धर्म है।

यूरोप का एक प्रसिद्ध नाटककार ग्रिलपार्जर (Grillparger) पाठ्य नाटको की तीव्र आलोचना करते हुए लिखता है कि वह रचना नाटक की सज्ञा पाने की अधिकारिणी नहीं, जो रगमच पर अभिनय के उद्देश्य से न लिखी गयी हो।

डाइडेटोर्ट (Didetort) नामक एक आलोचक का मत है कि नाटक का मूल अंश नाट्यकार की रचना नही, वह तो अभिनेता की कला है।—

"The essential part of the play was not created by the poet at all, but was created by the actor"

यह तो पश्चिमीय मत हुआ। भारतीय मत इसके सर्वथा विरुद्ध है। हमारे भारतीय आचार्य कवि और अभिनेता मे कवि को नाटक के लिए अधिक महत्ता प्रदान करते हैं—

"अतोऽभिनेतृभ्य कविमेव बहुमन्यामहे,
अभिनयेभ्यश्च काव्यमेवेति।" (भोज)

उक्त विद्वानो के मत की समीक्षा करने पर भी हम किसी निष्कर्ष पर नही पहुँच पाते, क्योकि दोनो पक्ष समान रूप से प्रबल हैं। दोनो के तर्क मे सार है। दोनो मत एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। यदि एक पाठ्य-नाटक को स्थायी साहित्य मानता है तो दूसरा उसे नाटकेतर साहित्य कहता है। एक नाटक के काव्य-तत्त्व को प्रधान और अभिनय-तत्त्व को गौण मानता है तो दूसरा अभिनय को ही सर्वस्व समझता है और काव्य-तत्त्व को नगण्य। ऐसी दशा मे दोनो का सामञ्जस्य कैसे सम्भव है ? तथा पाठ्य और प्रेक्ष्य नाटको मे किसे श्रेष्ठ माना जाय ? स्थायी साहित्य मे किसे परिगणित किया जाय ? ये समस्याएँ अन्ततोगत्वा उलझनी ही हैं।

यदि एक प्रश्न सुलझ जाय कि रगमच की सफलता का प्रमाण क्या, तो इन समस्याओ के सुलझाने मे सहायता मिले। सामान्य रीति से कहा जाता है कि जो रचना अधिक-से-अधिक दर्शको को आकर्षित करे वही सफल मानी जायगी। इस कसौटी पर कसने से प्रसाद के चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु नाटक तो नाटक माने ही नही जा सकते। एक बार काशी विश्वविद्यालय के छात्रो और अध्यापको ने बडे प्रयास के साथ चन्द्रगुप्त नाटक खेला। उसे देखने के लिए पर्याप्त सख्या मे दर्शक आये। किन्तु ज्यो-ज्यो समय बीतता गया लोग क्रमश खिसकते गए। अन्तिम दृश्य को देखने के लिए प० केशवप्रसाद मिश्र, रायकृष्णदास और प्रसादजी रह गये। ठीक इसके विपरीत जी० पी० श्रीवास्तव, आगा हश्र आदि नाटयकारो के नाटको के लिए बडी सख्या मे दर्शक अन्त तक डटे रहते हैं। गाँवो मे स्वाँग नाटको के दर्शको का क्या कहना ? सहस्रो व्यक्ति रात-रात भर नाटक का आनन्द लेते हैं। तो क्या इन नाटको को प्रसाद के नाटको से श्रेष्ठ मानना चाहिए ?

अब यदि यह मान लिया जाय कि नाटक के स्थायित्व के लिए रगमच

ड्राइडन तो यही कहते थे कि जब मेरे नाटक पाठको को आनन्द प्रदान कर सकेंगे तभी मैं अपनी रचना को उत्तम और चिरजीवी समझूँगा। वालटेयर (Voltaire) का मत है कि "What has the stage decoration to do with the merit of the poem? If the success depends on what strikes the eyes we might as well have moving pictures"

इसी प्रकार 'पोइटिक्स' के सिद्धान्तो का विश्लेषण करते हुए पाई (Pay) लिखते है—

"Good tragedy effects us as forcibly even while read in a room"

जर्मन आलोचक लेसिंग का मत है कि "There is no real relation between elaborate scenery or splendid theatrical edifices and great drama itself"

इतना ही नही लैम्ब तो यहाँ तक दावा करते हैं कि उच्चकोटि के नाटक का अभिनय सम्भव है ही नही—

"A masterpiece is rarely as well represented as it is written, mediocrity always fares better with the actors"

उच्चकोटि का नाटक जिस सौष्ठव के साथ विरचित होता है उस सौन्दर्य के साथ अभिनीत हो ही नही सकता। मध्यमकोटि के नाटक ही रग-मच पर पात्रो की कला-कुशलता के द्वारा रम्य बनते हैं।

समालोचको का दूसरा वर्ग भी है जो उक्त मत से सहमत नही। इटली के प्रसिद्ध विद्वान् 'लोडोविको कैसेलवेटो' (Lodovico Casleveto) ने सन् १५७० ई० मे त्रासद के सम्बन्ध मे दो बातें लिखी—"यद्यपि ट्रेजेडी का प्रभाव पठन-काल मे भी उतना ही पडता है जितना अभिनय काल मे, किन्तु एक अन्तर अवश्य है। रगमच पर अभिनय के समय विद्वान् और मूर्ख दोनो ट्रेजेडी से प्रभावित होते हैं किन्तु श्रवण या पठनकाल मे केवल विद्वानो पर ही प्रभाव पडता है।"

(२) नाटक एकमात्र रगमच के उद्देश्य से लिखा जाना चाहिए। यही उनका व्यावर्तक धर्म है।

यूरोप का एक प्रसिद्ध नाटककार ग्रिलपार्जर (Grillparger) पाठ्य नाटको की तीव्र आलोचना करते हुए लिखता है कि वह रचना नाटक की सज्ञा पाने की अधिकारिणी नहीं, जो रगमच पर अभिनय के उद्देश्य से न लिखी गयी हो।

डाइडेटोर्ट (Didetort) नामक एक आलोचक का मत है कि नाटक का मूल अंश नाट्यकार की रचना नही, वह तो अभिनेता की कला है।—

"The essential part of the play was not created by the poet at all, but was created by the actor "

यह तो पश्चिमीय मत हुआ। भारतीय मत इसके सर्वथा विरुद्ध है। हमारे भारतीय आचार्य कवि और अभिनेता मे कवि को नाटक के लिए अधिक महत्ता प्रदान करते हैं—

"अतोऽभिनेतृभ्य कविमेव बहुमन्यामहे,
अभिनयेभ्यश्च काव्यमेवेति।" (भोज)

उक्त विद्वानो के मत की समीक्षा करने पर भी हम किसी निष्कर्ष पर नही पहुँच पाते, क्योकि दोनो पक्ष समान रूप से प्रबल हैं। दोनो के तर्क मे सार है। दोनो मत एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है। यदि एक पाठ्य-नाटक को स्थायी साहित्य मानता है तो दूसरा उसे नाटकेतर साहित्य कहता है। एक नाटक के काव्य-तत्त्व को प्रधान और अभिनय-तत्त्व को गौण मानता है तो दूसरा अभिनय को ही सर्वस्व समझता है और काव्य-तत्त्व को नगण्य। ऐसी दशा मे दोनो का सामञ्जस्य कैसे सम्भव है? तथा पाठ्य और प्रेक्ष्य नाटको मे किसे श्रेष्ठ माना जाय? स्थायी साहित्य मे किसे परिगणित किया जाय? ये समस्याएँ अन्ततोगत्वा उलझती ही हैं।

यदि एक प्रश्न सुलझ जाय कि रगमच की सफलता का प्रमाण क्या, तो इन समस्याओ के सुलझाने मे सहायता मिले। सामान्य रीति से कहा जाता है कि जो रचना अधिक-से-अधिक दर्शको को आकर्षित करे वही सफल मानी जायगी। इस कसौटी पर कसने से प्रसाद के चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु नाटक तो नाटक माने ही नही जा सकते। एक बार काशी विश्वविद्यालय के छात्रो और अध्यापको ने बड़े प्रयास के साथ चन्द्रगुप्त नाटक खेला। उसे देखने के लिए पर्याप्त सख्या मे दर्शक आये। किन्तु ज्यो-ज्यो समय बीतता गया लोग क्रमश खिसकते गए। अन्तिम दृश्य को देखने के लिए प० केशवप्रसाद मिश्र, रायकृष्णदास और प्रसादजी रह गये। ठीक इसके विपरीत जी० पी० श्रीवास्तव, आगा हश्र आदि नाट्यकारो के नाटको के लिए बड़ी सख्या मे दर्शक अन्त तक डटे रहते हैं। गाँवो मे स्वाँग नाटको के दर्शको का क्या कहना? सहस्रो व्यक्ति रात-रात भर नाटक का आनन्द लेते हैं। तो क्या इन नाटको को प्रसाद के नाटको से श्रेष्ठ मानना चाहिए?

अब यदि यह मान लिया जाय कि नाटक के स्थायित्व के लिए रगमच

कोई कसौटी नहीं तो नाटक का व्यावर्तक धर्म क्या रहा ? इसे दृश्यकाव्य कहा ही क्यो जाय ? कुछ विद्वानो का यह मत दृढ होता जा रहा है कि रगमच की सफलता के सच्चे पारखी तो केवल सयमी काव्यकला प्रेमी हैं, चटक-मटक पर रीझने वाले कामुक नहीं, भाषा की अभिव्यक्ति शक्ति से अभिज्ञ भाषाविद् है, बाजारू भाषा के रसिक अनपढ नहीं।

दूसरी बात यह है कि सात्त्विक अभिनय का महत्त्व सात्त्विक वृत्ति के कलाविद् ही समझ पाते हैं, तामसी विचारो के दास नहीं। यह तो मानना ही पडेगा कि सात्त्विक अभिनय का महत्त्व कायिक, वाचिक एव आहार्य से कही अधिक है। अत जिस नाटक मे सात्त्विक अभिनय की पूर्ण क्षमता हो वह रगमच पर सफल नाटक समझा जाना चाहिए।

तीसरा लक्षण है नाटक मे प्रदर्शित जीवन के शाश्वत धर्मों के महत्त्व का। जो नाटक मानव-चरित्र के गहन विश्लेषण की झाँकी रगमच पर स्वाभाविक एव सहज सौन्दर्यपूर्ण शैली मे दिखा दे, वही वास्तव मे सफल दृश्य-काव्य कहलाने का अधिकारी है। इसको स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि जिस नाटक के अभिनय से कामी के साथ विरागी, कायर के साथ शूर-वीर, वासना-ग्रस्त के साथ सयमी आनन्दित हो जायें, वही नाटक सफल रग-मचीय नाटक माना जायगा। भरत मुनि कहते है—

धर्मो धर्म-प्रवृत्ताना काम कामार्थसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीताना मत्ताना दमन-क्रिया॥

× × ×

ईश्वराणा विलासश्च स्थैर्यं दु खार्दितस्य च।
अर्थोपजीविनामर्थो धृतिरुद्विग्न चेतसाम्॥
नाना भावोपसम्पन्न नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरण नाट्यमेतन्मया कृतम्॥

[जो कर्तव्य-प्रेमी को कर्तव्य, कामार्थी को काम, दुर्विनीत को आत्म-निग्रह, मत्त व्यक्तियो को दमन-शक्ति प्रदान करे, जो शक्तिशाली को विलास, दु ख मे आर्द्र को स्थिरता, अर्थ-प्रेमी को धनसचय का मार्ग और उद्विग्न प्राणी को धैर्य प्रदान करे, वह इस प्रकार नाटक-क्रिया और भाव के द्वारा सबको शिक्षाप्रद सिद्ध होगा।]

जिस नाटक के अभिनय मे जीवन का उदात्तीकरण सम्भव हो और जिसमे इस उदात्तीकरण के लिए धर्मशास्त्र, गीता, उपनिषद् एव धर्मग्रन्थो का सहारा न लेकर मानव के अन्तरग सौन्दर्य का आश्रय लिया गया हो, वह नाटक

स्थायी माना जाना चाहिए।

भरत मुनि के अनुसार अभिनय का कार्य है कवि के तात्पर्य को पात्रो के द्वारा दर्शक तक पहुँचा देना। कुशल अभिनेता मूक अभिनय, नृत्य, सगीत, छाया-अभिनय आदि पद्धतियो के द्वारा कवि-विचार को मनोरजक रीति से दर्शको तक पहुँचाता है। अभिनेता कवि-तात्पर्य को किसी भी प्रकार से दर्शक तक नहीं पहुँचा पाता तो इसमे दोष अभिनय कला का है, कवि का नही। यह कार्य अभिनेता का है कि कवि-तात्पर्य को मनोरजक रीति से दर्शक के सामने रखने का मार्ग निकाले। यदि पूर्ण प्रयास करने पर भी वह सफलता नही पाता तो अभिनय कला को विकसित करना होगा। यन्त्रो के आविष्कार से अभिनय कला का ज्यो-ज्यो विकास होता जायगा त्यो-त्यो पाठ्य-नाटक प्रेक्ष्य भी बनते जायगे।

उत्तम कोटि की रचना को प्रेक्ष्य कैसे बनाया जाय, यह कार्य रगमञ्च व्यवस्थापक और कुशल अभिनेता का है। नृत्य-नाटय, गीति-नाटय सब नाटक के ही अन्तर्गत तो हैं। मध्यकाल मे नाटक के गूढ-से-गूढ विचारो को भी गीत और नृत्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता था। हिन्दी मे ही नही, बँगला, तामिल, गुजराती एव मराठी मे भी यही प्रथा प्रचलित थी।

स्थायी नाटक मे जीवन की शाश्वत समस्याओ के समाधान का प्रयास होना आवश्यक है। सामयिक समस्याएँ शाश्वत समस्याओ का अग होती हैं। अगी की उपेक्षा करके अग की रक्षा नही हो सकती। अत जिस नाटक मे किसी युग-विशेष मे प्रचलित सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक समस्याओं को इतनी प्रधानता मिल जायगी कि व्यक्ति विशेष की आभ्यन्तरिक विशिष्टता क्षीण-प्राय हो जायगी, वह नाटक स्थायी नही बन सकता। कारण यह है कि युग-परिवर्तन के साथ समस्या का रूप बदल जायगा। बदले हुए समाज को पुरानी समस्या अरुचिकर प्रतीत होगी। प्रत्येक युग की एक नई समस्या होती है और उसी समस्या को उस युग का समाज समझना चाहता है। अत पुरानी समस्या पर व्यग्य करने वाले नाटक पुराने और मन्दप्रभ हो जाते हैं।

इसके विपरीत मानव के अन्तस्तल मे विविध मनोवेगो का द्वन्द्व सर्वदा एक समान रहता है। किसी भी युग के प्राणी मे क्षमा, करुणा, प्रेम, त्याग आदि शाश्वत धर्म के कारण कष्ट सहने वाले मानव के प्रति सम्मान की भावना बनी रहती है। जिस नाटक मे एक पात्र इतना ऊँचा उठ जाता है कि वह सूर्य-चन्द्रमा अथवा नक्षत्र के सदृश सार्वदेशिक एव सार्वकालिक हो जाता है वह नाटक स्थायी बनता है। इब्सन के नाटको को स्थायित्व इस कारण नहीं कि

वह तत्कालीन समाज की सम्यक् आलोचना करता है। उसको स्थायित्व देने वाली वे विशेषताएँ हैं, जिनके कारण हमारी दृष्टि एक पात्र पर टिक जाती है। उन पात्र के आन्तरिक सौन्दर्य पर हम रीझ जाते हैं। उस पात्र मे रिझाने की जो शक्ति उन्नीसवी शताब्दी मे थी वह शताब्दियो के उपरान्त भी तद्वत् बनी रहेगी। शकुन्तला, हेमलेट, ऑथेलो आदि की यही विशेषताएँ हैं।

भाषा नाटक में प्रथम गद्य प्रयोग

भारतीय नाट्यकला के प्रधानत दो केन्द्र रहे हैं—(१) राजप्रासाद, (२) खुले रगमच। शास्त्रज्ञाता पडितप्रवर राजाश्रय मे रहकर राजपुरुष, अभिजात वर्ग एव नागरिको के मनोरजन के लिए राजकीय नाट्यशालाओ के उपयुक्त नाटको की रचना करते तो प्रतिभा-सम्पन्न अर्धशिक्षित ग्रामीण अपने व्यवसाय से अवकाश पाने पर सामान्य जनता के अनुरूप जननाटको का सृजन करते रहे। दूसरे वर्ग के नाट्यकारो की न कोई रगशाला होती थी और न नाट्यशास्त्र की गतिविधि से अभिज्ञ होने की इन्हे लालसा होती। निम्न मध्यम वर्ग मे उत्पन्न ये लोक-नाट्यकार जनप्रिय कथानको के आधार पर गीतो के माध्यम से अभिनय के द्वारा रस की वर्षा करते।

१५वी शताब्दी मे हिन्दी नाट्यकारो का एक तीसरा वर्ग भी था। इस वर्ग के उद्भट विद्वान् महात्मा सस्कृत और लोक-प्रचलित नाट्य पद्धतियो के मिश्रण से एक अभिनव नाट्य-शैली का प्रयोग करते रहे थे और उन्होंने देवालयो को केन्द्र बनाकर सस्कृत-मिश्रित हिन्दी के माध्यम मे वैष्णव धर्म का परिज्ञान कराया। इस स्तुत्य प्रयास मे सबसे अधिक सफलता आसाम को मिली। आसाम की धार्मिक जनता के सहयोग और महापुरुष शकरदेव के प्रयत्न से स्थान-स्थान पर नामघरो और प्रमुख स्थानो पर सत्रो का निर्माण हुआ। इस युग मे वैष्णव धर्म का सर्वत्र प्रचार हो रहा था। समस्त उत्तर तथा दक्षिण भारत वैष्णव भक्तो के मधुर गीतो से गुञ्जरित हो रहा था। इन गेय पदो को गाकर तथा रगशाला मे उन्हे अभिनेय बनाकर कविगण वैष्णव धर्म का प्रसार करते। ये सन्त-महात्मा राम-कृष्ण, ध्रुव-प्रह्लाद आदि विविध अवतारो की लीलाएँ नाटक के रूप मे जनता के सम्मुख प्रदर्शित करते। अभिनय-कला इनका सम्पर्क पाकर पावन बन गई। प्रेम-क्रीडा इनके सान्निध्य मे परमार्थ-साधक हो गयी। सौंदर्य स्वर्गीय बन गया। लौकिकता अलौकिक गुण-सम्पन्न बन गई। गेय पदो की रचना के साथ गीति-नाट्यो का भी सृजन इनकी विशेषता थी। इन्ही दिनो मदिरो के सरक्षण मे रासलीला एव राम-

लीला का प्रचार वढा । अष्टछाप के कवि पदो की रचना मन्दिर मे गाने और रासलीला मे अभिनय के उद्देश्य से करते रहे । इन सन्त-महात्माओं मे सर्व-प्रथम गद्य का प्रयोग करने वाले महापुरुष शकरदेव एव माधवदेव दो वैष्णव थे । माधवदेव शकरदेव के शिष्य थे । उन्होने अपने गुरुदेव की परम्परा को आगे वढाया । इन दोनो महात्माओं ने नामघरो को सास्कृतिक केन्द्र बना दिया । वैष्णव-भक्त रामायण और महाभारत की कथाओ का अभिनय गद्य-पद्य के माध्यम से गाँव-गाँव दिखाने लगे । इनके धार्मिक नाटक अकियानाट के नाम से प्रसिद्ध हुए । १५वी तथा १६वीं शताब्दी मे इन नाटको ने भारतीय सस्कृति को आपत्तिकाल मे भी जीवित रखा । आसाम को इसका विशेष श्रेय देना चाहिए । सोलहवी शती के उपरान्त भी चिरकाल तक ये अकिया नाटक हमारी चेतना के उन्नायक वने । सस्कृत एव लोकभाषा मिश्रित इस नाट्यशैली और उसके निर्माता का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है ।

हम पूर्व कह आये हैं कि गद्य का सर्वप्रथम प्रयोग शकरदेव ने किया । महापुरुष शकरदेव बगाल के नवगांव जिले के वरदोआ तालुके के प्रधान (शिरोमणि) कायस्थ कुलोद्भव श्री राजधर के प्रपौत्र, सूर्यवर के पौत्र, कुसुमवर एव सत्यसन्धा के पुत्र थे । आपका जन्म १४४९ ई० मे हुआ । जन्म के १५वे दिन इनकी माता का स्वर्गवास हो गया । शैशव मे ही पिताजी भी चल वसे । इनकी मातामही खेरसुति ने इनका पालन-पोषण किया । वाल्यकाल मे इनका घनिष्ठ मित्र राम-राम खेल-कूद मे इनका साथी रहा ।

वाल्यकाल मे इनकी शारीरिक शक्ति एव इनका अदम्य उत्साह देखकर लोगो को आश्चर्य होता । वारह वर्ष की अवस्था मे ही ये वर्षा ऋतु मे प्लावित ब्रह्मपुत्र नदी को तैरकर पार कर जाते । मातामही के आग्रह से इन्होने उस काल के प्रसिद्ध विद्वान् महेन्द्र कन्दली से अध्ययन प्रारम्भ किया । पूर्व जन्म के सस्कार एव नैसर्गिक प्रतिभा के वल से अचिरात् इन्होने वेदशास्त्र, व्याकरण एव साहित्य का विधिवत् अध्ययन कर लिया । अध्ययन के उपरात ससार के प्रति इनकी विरक्ति देखकर इनके पितृव्य ने ताल्लुके का शासन-भार इनके ऊपर रख दिया । उन्नीस वर्ष की अवस्था मे अपनी तेजस्विता के वल पर इन्होंने धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया । श्रीमद्भागवत पुराण और भगवद्-गीता के आधार पर इन्होने धर्म के एक नये रूप को एक नई शैली मे जनता के सामने रखा । यह शैली सस्कृत के आचार्यो की तर्क-वितर्क शैली से पृथक् थी । इसमे सस्कृत नाट्य-विधान के नियमण को न तो पूर्णतया स्वीकार किया गया और न सर्वथा इसको त्याज्य माना गया । शकराचार्य एव रामानुज द्वारा

प्रतिपादित अद्वैत और विशिष्टाद्वैत नामक सिद्धातो को प्रेम-रस से सिक्त कर सस्कृत-मिश्रित देशी भाषा के माध्यम मे धर्म का एक नया रूप प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार भाषा और शैली, दर्शन और साहित्य, ज्ञान और भक्ति सबके सामञ्जस्य से शकर ने जीवन-दर्शन का एक नया स्वरूप खडा किया जिसका प्रभाव शताब्दियो तक परिलक्षित होता रहा।

शकरदेव ने श्रव्य और दृश्य दोनो प्रकार के काव्यो द्वारा अपने नवीन जीवन-दर्शन का प्रचार किया। उन्होंने श्रव्य काव्य के रूप मे 'हरिश्चन्द्र उपाख्यान', 'भक्ति प्रदीप', 'कीर्त्तन घोषा', 'वरगीत', 'रुक्मिणी हरण' १२ स्कधो मे 'महाभागवत', 'गुनमाला', 'रामायण', 'भक्ति रत्नाकर' आदि ग्रथो की रचना की। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'पत्नि प्रसाद', 'रुक्मिणी हरण', 'कालि-दमन', 'केलिगोपाल', 'पारिजात हरण' एव 'रामविजयनाट' नामक अकियानाट भी विरचित किये। हम इस स्थान पर उनके अकियानाट का ही विवेचन करेंगे।

दर्शनशास्त्र, सस्कृत व्याकरण एव साहित्य के पाण्डित्य तथा तत्कालीन जन-रुचि ने इन्हे भाषा नाटको मे भी सस्कृत-नाट्य-शैली को यत्रतत्र स्थान देने को बाध्य किया। यद्यपि इन्होने नान्दी, प्रस्तावना एव भरत वाक्य आदि पारिभाषिक पदावली का प्रयोग नही किया है तथापि इनमे शास्त्रीय नियमो के परिपालन का प्रयास अवश्य पाया जाता है। नान्दी मे आठ या बारह चरण होते है और किसी देवता की आराधना की जाती है। शकरदेव के प्राय सभी नाटकों में यह पद्धति अपनाई गई है। प्रत्येक नाटक के नान्दी मे तदनुकूल देव-वदना की गई है। 'पत्नी प्रसाद', 'रुक्मिणी हरण' 'पारिजात हरण', 'केलि-गोपाल' मे श्रीकृष्ण की वदना आठ पदो में की गई है और 'रामविजय' नाट मे भगवान् श्री रामचन्द्रजी की आराधना उतने ही पदो मे सम्पन्न होती है।

शकरदेव मूलत कृष्ण-भक्त थे। उनका मन कृष्ण के गुणगान मे प्रधान रूप से रमता था। किन्तु 'रामविजय' नाट मे उन्होंने राम का स्मरण अत्यन्त भक्ति भाव के साथ किया है। जैसा निम्नलिखित उद्धरणो से प्रतीत होता है—

यन्नामाखिल लोकशोकशमन यन्नाम प्रेमास्पद
पापापार पयोधितारणविधौ यन्नाम पीन प्लव
यन्नामश्रवणात् पुनाति श्वपच प्राप्नोति मोक्ष क्षणे
त श्री रामयश महेश वरद वन्दे सदा सादरम् ॥

इसी प्रकार राम की लीलाओ का वर्णन करते हुए वे आगे कहते है—

येनाभाजि धनु शिवस्य सहसा सीता समाश्वासिता
येनाकारि पराभवो भृगुपतेर्वासस्य रामस्य च ।
वैदेह्या' विधिवद्विवाहमकरोत् निर्जित्य य पार्थिवान्
युष्माक वितनोतु श च भगवान् श्री रामचन्द्रश्चिरम् ॥

हम पूर्व कह आये हैं कि शकरदेव ने सस्कृत और तत्कालीन दोनो पद्धतियो का सामञ्जस्य करने का प्रयास किया है। जहाँ उन्होने नान्दी मे आठ अथवा बारह पदो मे सस्कृत श्लोको की रचना की है वही विभिन्न रागो मे गाने योग्य देशी भाषा के गीतो की भी रचना (नान्दी रूप मे) की है।

'रुक्मिणी हरण', 'पारिजात हरण', 'पत्नी प्रसाद', आदि सभी नाटको मे आठ सस्कृत पदो के उपरान्त भाषा गीतो के माध्यम से उन्ही देवताओ की आराधना की गई है। उदाहरण के लिए देखिए—

जय जग जीवन मुरार
पावे परनाम हमार (ध्रुव)
पद—पच मुहे याहे तुति वुलि
शिरे हर घर पदधूलि ॥
याहे सुरासुर करु सेवा
सोहि मोहि गति देव देवा ॥
रिपु नृप सब योहि जिनि ।
हरल हरषे रुक्मिनि ॥
करल हरि विविध विलासा ।
कहतु शकर हरि दासा ॥

—रुक्मिणीहरण

इस प्रकार यदि ध्रुव को पृथक् कर दें तो आठ पदो मे नान्दी का रूप दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार रामविजय नाट मे भी सस्कृत के उपरान्त भाषा गीतो के माध्यम मे नान्दी का स्वरूप देखिए—

[गीत-राग मोहाई, एकतालि]

जय जगजीवन राम ।
कयलो पडि परणाम ।
याहे नाम गुण मुहे गाइ ।
पापी परम पद पाई ॥

याहे स्मरणे करु पारा ॥
अजगव भजन कारी ।
पावल जनक कुमारी ॥
नृप सव छेदल वाणे ।
कृष्ण किंकर एहु भाणे ॥

शकरदेव ने नान्दी के उपरान्त सूत्रधार का प्रवेश कराया है। भास की 'नान्द्यन्ते सूत्रधार प्रविशति' नामक पद्धति को हम उनके अधिकाश नाटको मे पाते है। 'रुक्मिणीहरण' मे भाषा-गीत के उपरान्त शकरदेव लिखते है "नान्द्यन्ते सूत्रधार अलमिति विस्तरेण। प्रथम माधवो माधवेत्युच्चार्य नत्वा नारायण सभासदान् सम्बोध्याह—

भो भो सभासदा साधु शृणुध्व श्रद्धयाधुना।
रुक्मिणी हरण नाम नाटके मुक्ति साधकम्।"

इसी प्रकार रामविजय नाट मे इस प्रकार उद्धरण मिलता है—

नान्द्यन्ते सूत्रधार'। अलमतिविस्तरेण। प्रथम माधवो माधव इत्युक्त्वा श्रीरामचन्द्र प्रणम्य सभासदान् सम्बोध्य आह—

भो भो सामाजिका । यूय शृणुतावहित बुधा ।
श्री रामविजय नाम नाटक मोक्षसाधकम् ॥"

'पारिजात हरण' मे नान्दी के अन्त मे सूत्रधार सामाजिक को सम्बोधित करते हुए कहता है—

भो भो सामाजिका, ईश कृष्णस्य जगत पते, श्री पारिजात हरण यात्रा सम्प्रति पश्यत।

उपर्युक्त उद्धरणो से यह प्रमाणित होता है कि महापुरुष शकरदेव के अन्त करण मे संस्कृत शैली का मोह अवश्य था। उन्होंने नान्दी पाठ के अन्त मे सूत्रधार को प्रविष्ट किया है और तदुपरान्त भास के सदृश उससे भी मगल श्लोक के रूप मे देववन्दना की व्यवस्था की है।

जननाट्य शैली

संस्कृत नाट्यशैली का परित्याग एव जननाट्य शैली का ग्रहण यही से प्रारम्भ होता है। संस्कृत नाटको मे प्रस्तावना के उपरान्त सूत्रधार रगमच पर नही आता किन्तु जननाट्य शैली मे वह आद्योपान्त विद्यमान रहकर पूर्वापर प्रसग को सयुक्त करता चलता है। शकरदेव के नाटको मे जब कोई नया पात्र रगमच पर प्रवेश करता है तो सूत्रधार उसका परिचय देता है। उसके प्रवेश का

येनाभाजि धनु शिवस्य सहसा सीता समाश्वासिता
येनाकारि पराभखो भृगुपतेर्वासस्य रामस्य च ।
वैदेह्या विधिवद्विवाहमकरोत् निर्जित्य य पार्थिवान्
युष्माक वितनोतु श च भगवान् श्री रामचन्द्रश्चिरम् ॥

हम पूर्व कह आये हैं कि शकरदेव ने सस्कृत और तत्कालीन दोनो पद्धतियो का सामञ्जस्य करने का प्रयास किया है। जहाँ उन्होने नान्दी मे आठ अथवा बारह पदों मे सस्कृत श्लोको की रचना की है वही विभिन्न रागो मे गाने योग्य देशी भाषा के गीतो की भी रचना (नान्दी रूप में) की है।

'रुक्मिणी हरण', 'पारिजात हरण', 'पत्नी प्रसाद', आदि सभी नाटको मे आठ सस्कृत पदो के उपरान्त भाषा गीतो के माध्यम से उन्ही देवताओ की आराधना की गई है। उदाहरण के लिए देखिए—

जय जग जीवन मुरार
पावे परनाम हमार (ध्रुव)
पद—पच मुहे याहे तुति वुलि
शिरे हर धर पदधूलि ॥
याहे सुरासुर करु सेवा
सोहि मोहि गति देव देवा ॥
रिपु नृप सव योहि जिनि ।
हरल हरषे रुक्मिनि ॥
करल हरि विविध विलासा ।
कहतु शकर हरि दासा ॥

—रुक्मिणीहरण

इस प्रकार यदि ध्रुव को पृथक् कर दें तो आठ पदो मे नान्दी का रूप दिखाई पडता है। इसी प्रकार रामविजय नाट मे भी सस्कृत के उपरान्त भाषा गीतो के माध्यम मे नान्दी का स्वरूप देखिए—

[गीत-राग मोहाई, एकतालि]

जय जगजीवन राम ।
करलो पडि परणाम ।
याहे नाम गुण मुहे गाइ ।
पापो परम पद पाई ॥
मोहि भवताप अपारा ।

याहे स्मरणे करु पारा ॥
अजगव भजन कारी ।
पावल जनक कुमारी ॥
नृप सव छेदल वाणे ।
कृष्ण किंकर एहु भाणे ॥

शंकरदेव ने नान्दी के उपरान्त सूत्रधार का प्रवेश कराया है। भास की 'नान्द्यन्ते सूत्रधार प्रविशति' नामक पद्धति को हम उनके अधिकांश नाटको मे पाते हैं। 'रुक्मिणीहरण' मे भाषा-गीत के उपरान्त शंकरदेव लिखते हैं "नान्द्यन्ते सूत्रधार अलमिति विस्तरेण। प्रथम माधवो माधवेत्युच्चार्य नत्वा नारायण सभासदान् सम्बोध्याह—

भो भो सभासदा साधु शृणुध्व श्रद्धयाधुना।
रुक्मिणी हरण नाम नाटके मुक्ति साधकम्।"

इसी प्रकार रामविजय नाट मे इस प्रकार उद्धरण मिलता है—

नान्द्यन्ते सूत्रधार। अलमतिविस्तरेण। प्रथम माधवो माधव इत्युक्त्वा श्रीरामचन्द्र प्रणम्य सभासदान् सम्बोध्य आह—

भो भो सामाजिका। यूय शृणुतावहितं बुधा।
श्री रामविजयं नाम नाटकं मोक्षसाधकम्॥"

'पारिजात हरण' मे नान्दी के अन्त मे सूत्रधार सामाजिक को सम्बोधित करते हुए कहता है—

भो भो सामाजिका, ईश कृष्णस्य जगत पते, श्री पारिजात हरण यात्रा सम्प्रति पश्यत।

उपर्युक्त उद्धरणो से यह प्रमाणित होता है कि महापुरुष शंकरदेव के अन्त करण मे संस्कृत शैली का मोह अवश्य था। उन्होंने नान्दी पाठ के अन्त मे सूत्रधार को प्रविष्ट किया है और तदुपरान्त भास के सदृश उससे भी मगल श्लोक के रूप मे देववन्दना की व्यवस्था की है।

जननाट्य शैली

संस्कृत नाट्यशैली का परित्याग एव जननाट्य शैली का ग्रहण यही से प्रारम्भ होता है। संस्कृत नाटको मे प्रस्तावना के उपरान्त सूत्रधार रगमच पर नहीं आता किन्तु जननाट्य शैली मे वह आद्योपान्त विद्यमान रहकर पूर्वापर प्रसग को सयुक्त करता चलता है। शंकरदेव के नाटकों मे जब कोई नया पात्र रगमच पर प्रवेश करता है तो सूत्रधार उसका परिचय देता है। उसके प्रवेश का

उद्देश्य और पात्र का रूप-वर्णन भी वही गीत के माध्यम मे स्पष्ट करता है। प्रमाण के लिए देखिए—

सूत्रधार—सखि सब सहिल से रुक्मिणी जंचे प्रवेश कायल ता देखह शुनह, निरन्तरे हरि बोल हरि बोल—

गीत—[राग सुहाई, मान एकतालि]

घ्रु—आवत रुक्मिणी कयौ पयसार।
सखि सब सगे रगे करत विहार॥
पद—इपत हसित मुख चान्द उजोर।
दशन मौतिम यैचे नयन चकोर॥
मणिक मुकुट कुण्डल गड ढोल।
कनक पुतली तनु नील निचोल॥
कर ककरण केयूर झणकार
माणिक कांचि रचित हेमहार॥
चलाइते चरण मजीरी करु रोल।
रूपे भुवन भूले शंकर बोल॥

(सखी लीलावती सखी मदनमजरी सहित रुक्मिणी प्रवेश)

यह उद्धरण इस तथ्य का प्रमाण है कि शकरदेव ने सूत्रधार को अपने नाटको मे वही स्थान दिया है जो जन-नाटको मे भागवत, व्यास, व्यवस्थापक अथवा समाजी को दिया जाता है। उन्होंने पात्रो के प्रवेश एव निर्गमन का सकेत तो सस्कृत शैली के अनुसार किया है किन्तु पात्रो के परिचय और रूप-लावण्य के वर्णन मे जन-नाटय शैली का अनुसरण किया है।

सूत्रधार प्रवेश एव परिचय मे हिन्दी गद्य-पद्य के साथ-साथ सस्कृत श्लोकों का प्रयोग भी करता चलता है। 'रुक्मिणी हरण नाट' मे सूत्रधार अपने सार्थी से वार्तालाप करते हुए कह रहा है—

"सगी—सखि देव दु दुभि बाजत !

सूत्र—ओहे देव दु दुभि बाजत, आ से परमेश्वर श्रीकृष्ण मिलल।

श्लोक—प्रवेशमकरोन् कृष्ण स्वकान्त्या कामकोटिजित्।
जगता जनको वाता सोद्धव साधु बान्धव॥"

इसी श्लोक का अर्थ स्पष्ट करते हुए सूत्रधार सभासदो को सम्बोधित करता है—

आहे सभासद। याकर कथा कहइछि सोहि श्री कृष्ण उद्धव सहित आवन, ऐ आवत (इति सर्वे निष्क्रान्ता)।"

हम कह गए हैं कि शकरदेव का सूत्रधार जन-नाटक शैली का अनुसरण करता हुआ नटो और सामाजिक के बीच सम्बन्ध जोडता चलता है। उस प्रक्रिया मे आवश्यकतानुसार वह सस्कृत नाट्य शैली एव जन-नाट्य शैली दोनो का प्रयोग करता चलता है। एक पात्र के प्रवेश का प्रभाव दूसरे पात्र पर क्या पडता है इसका वर्णन पात्रो के हावभाव और मुखमुद्रा के अतिरिक्त सूत्रधार अपने शब्दो के द्वारा सामाजिक को बताता चलता है। नाटक मे यह एक बडा दोष माना जा सकता है। इस क्रिया मे सूत्रधार अपने अधिकार से बाहर चला जाता है। आश्चर्य तो यह है कि इस प्रभाव का वर्णन शकरदेव कही-कही सस्कृत श्लोको के माध्यम से भी करते दिखाई पडते हैं। जैसे 'रुक्मिणी हरण नाटक' मे कृष्ण का दर्शन होने पर रुक्मिणी की मनोगति का वर्णन करते हुए सूत्रधार कहता है—

कृष्णस्य रूपलावण्य श्रवणेन विमोहिता।
दधौ तच्चरणाम्भोज भजनीय सता सती॥

इसी का अर्थ स्पष्ट करने के लिए सूत्रधार भाषा मे कहता है—

हे राजकुमारी रुक्मिणी कृष्णक रूप लावण्य सुनिए मोहित हुआ देख अेचे कृष्णक चरन चिंतिए रहल आहे लोक ताहे देखह-सुनह निरन्तरे हरिबोल हरिबोल।

पट-परिवर्तन

अकिया नाट मे दृश्य-परिवर्तन की पद्धति नही। नाटक जिस दृश्य से प्रारम्भ होता है उसी से उसका पर्यवसान भी होता है। पट-परिवर्तन की आवश्यकता नही।

सूत्रधार रगमच पर बैठकर आवश्यकतानुसार पात्रों को दूर देश भेजता है और उन्हे स्वेच्छा से बुला भी लेता है। जब कोई पात्र दूर देश की यात्रा करता है तो सूत्रधार उसकी अनुपस्थिति मे उसका विवरण देता चलता है। 'रुक्मिणी हरण नाट' मे रुक्म राजा की राजधानी मे नाटक प्रारम्भ होता है। जिस समय रुक्मिणी अपनी सखियो से वार्तालाप करती है उसी समय द्वारका देश मे वेदनिधि नामक भिक्षु आता है और कृष्ण के रूप-गुण का वर्णन करता है। रुक्मिणी कृष्ण के गुण-श्रवण से मुग्ध होकर एक पत्र ब्राह्मण के द्वारा कृष्ण के पास भेजती है। ब्राह्मण रुक्मिणी को आश्वासन देकर कृष्ण के पास जाता है। सूत्रधार उसकी यात्रा का विवरण इस प्रकार देता है—

कुमारीक आश्वास बुलिए वचन
द्विज द्वारिका क लागि कयल गमन ॥ध्रुव॥
पद—छाड़ल नगर गिरि अरण्य आशेष
भेल द्वारवती पुरी विप्र परवेश
मनोहर नगर सागर मह थिक ।
कर परकाश सुर पुरीक अधिक ।
जगत विभूति तथि भेलि एकु थान ।
हरि पुरी देखल कनक निरभान ।
द्वारी द्वारपालक रोलय पाइ लाग ।
कुण्डिनक द्विज हामु कह कृष्ण आग ।
कृष्णत हामार थिक गोप्य प्रयोजन ।
राम राम बोलहु हरि से सर्वजन ॥

सूत्रधार रुक्म की उसी राजधानी को द्वारिका नगरी मे परिवर्तित कर देता है। सामाजिक को अपने काव्य-चातुर्य से यह प्रतीत करा देता है कि द्वारका नगरी उनके सामने विद्यमान है। द्वारपाल और कृष्ण वही उपस्थित हो जाते हैं। द्वारपाल द्वारा सूचना पाकर कृष्ण कुण्डन ब्राह्मण का पाद-प्रक्षालन करते है और उससे कुशल समाचार पूछते हैं—

कुशलस्तव विप्रेन्द्र किमर्थमिह चागत ।
पवित्रीकृत्य चास्माक त्वत्पादरजसागृहम् ॥

इस प्रकार दोनो का वार्तालाप राजा भीष्मक की नगरी वाले दृश्य में ही चलता रहता है। नाटयकार का कौशल है कि रुक्मिणी के पत्र को कृष्ण स्वत नही पढते वे ब्राह्मण वेदनिधि से पढाकर पत्र सुनते हैं। इस प्रकार सामाजिक को पत्र का रहस्य ज्ञात हो जाता है। कृष्ण की दशा का वर्णन सूत्रधार अपने ही शब्दो मे करता चलता है। यही नाटयकार की पद्धति है कि वह सामाजिक को पात्रो की मनोदशा मे अवगत कराता चलता है। आज का नाटयकार रगमच निर्देश को कोष्ठ-बद्ध करता है किन्तु शकरदेव उसको सूत्रधार के मुख से सामाजिक को बताते चलते हैं।

श्रीकृष्ण ब्राह्मण को रथासीन कर स्वत उस पर विराजमान होते हैं और रुक्मिणी के पास वायु-वेग से प्रस्थान करते हैं। रगमच से दोनो जब बहिर्गत होते हैं तो नाटयकार पुन रुक्मिणी को उसकी सखियो के साथ उपस्थित करता है। नाटयकला की दृष्टि से यहाँ एक दोष परिलक्षित होता है। नाट्यकार ने रुक्मिणी का रगमच मे निष्क्रमण कही नही बताया। आव-

श्यक पात्रो के आह्वान के ध्यान मे सम्भवत वह अनावश्यक पात्रो के निष्क्रमण की व्यवस्था विस्मृत कर देता है। यदि रुक्मिणी की विद्यमानता मे रगमच पर कृष्ण और वेदनिधि मे वार्तालाप होता है तो आगे की कथा निरर्थक हो जाती है। अत रुक्मिणी का निष्क्रमण किसी-न-किसी रूप मे आवश्यक है। यदि रुक्मिणी का निष्क्रमण दिखाकर पुन उसका प्रवेश कृष्ण-प्रस्थान के उपरान्त दिखाया गया होता तो रगमच-निर्देश की दृष्टि से यह नाटक इस त्रुटि मे बच जाता।

पट-परिवर्तन के बिना ही दो राजधानियो का दृश्य शकरदेव किस प्रकार प्रदर्शित करते रहे, यह एक समस्या है। शकरदेव एक कुशल कलाकार थे। उनके शिष्य-वर्ग मे कई चतुर चित्रकार भी थे। सम्भवत पटक्षेप के स्थान पर पृष्ठभूमि का पट-परिवर्तित होता रहा होगा। भीष्मक की राजधानी और द्वारकापुरी के दो चित्रपटो द्वारा स्थान का बोध कराया गया होगा।

तीसरा दृश्य रणक्षेत्र का है। कृष्ण का प्रतिद्वन्द्वी शिशुपाल रुक्मिणी के अपहरण को लालायित था। उसकी आसुरी सेना ने रुक्मिणी को घेर लिया। रुक्मिणी का ज्येष्ठ भ्राता रुक्मक भी शिशुपाल का सहायक था। एक पक्ष मे कृष्ण हैं और दूसरे मे शिशुपाल और रुक्म। दोनो पक्ष के घोर युद्ध का वर्णन सूत्रधार इस प्रकार करता है—

काटेल वाण कृष्णे शर मारि।
गरजे रुक्मी पुनु शर प्रहारि॥
× × ×
वहुतर वाणे ताहे हृदि भेदि।
हातक धनु पेलावल छेदि॥
हाते मुठि धरि रुक्मी कुमार।
कृष्णक हृदये कयल प्रहार।
ताहे प्रहारि हासि यदुनाथ।
धरल केश केशव वाम हात॥
× × ×
पाइ त्रोट वरि मूरछित वीर।
कृष्ण धरल खाराडा छेदिते शिर॥

इस उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि दृश्य-परिवर्तन की अभाव-पूर्ति सूत्रधार के गीत से की जाती थी। सूत्रधार नए दृश्य का विधान अपने नूतन गीतो के वल पर निर्मित करता है। एक ही दृश्य मे भीष्मक की राजधानी द्वारका, युद्ध-क्षेत्र

कृष्ण विवाह मडप आदि विविध दृश्यो का प्रदर्शन होता था।

इसी प्रकार रामविजय नाट मे रामजन्म, कौशिक यज्ञरक्षा, मारीच सुबाहु-वध, मिथिला मे धनुषयज्ञ, सीता-विवाह, राम का सीता सहित अयोध्या प्रत्यागमन, मार्ग मे परशुराम लक्ष्मण विवाद, अयोध्या मे सीताराम का अभिनन्दन इतने दृश्यो को एकत्र एक दृश्य मे प्रदर्शित किया गया है। इसे लोक-नाट्य शैली के अतिरिक्त और क्या कहा जाय। यद्यपि शकरदेव ने इन नाटको के अभिनय के लिए नामघर (नाट्यशाला) की स्थापना की थी तथापि पट-परिवर्तन को अनावश्यक समझ कृष्ण और राम की अनेक लीलाओ को एक ही दृश्य मे दिखाने का प्रयास किया है। शकरदेव जैसा धुरधर विद्वान् सस्कृत की नाट्य शैली की सीमा का उल्लघन कर जन-नाट्य-शैली को किसी-न-किसी कारणवश व्यवहार्य बना रहा था। वह कारण क्या रहा होगा ? ऐसा प्रतीत होता है कि 'ओझापाली' नामक जनप्रिय नाट्य-शैली को सशक्त बनाने के लिए उन्होने सस्कृत की रूढियो का परित्याग किया होगा। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि पुण्यपर्वों पर विशाल जन-समूह को एकत्रित देख उन्होने नाट्यगृहो के अतिरिक्त खुले विस्तृत मैदानो मे अभिनय के लिए ये नाटक विरचित किये होंगे। इसी जन-नाट्य-शैली मे पट-परिवर्तन के विना ही नाट्य-गृहो मे इन नाटको का अभिनय विशेष अवसरो पर किया गया होगा।

उनके किसी भी नाटक मे पट-परिवर्तन का विधान नही। एक घटना हो अथवा अनेक। सबके लिए एक ही पद्धति है। पात्रो का प्रवेश और निष्क्रमण नियमित रूप से दिखाया गया है। यद्यपि कही-कही भूल अवश्य हो गई है पर वह अपवादस्वरूप है। केवल सूत्रधार स्वेच्छा से प्रवेश एव निष्क्रमण के नियमो का उल्लघन कर सकता है। 'उसके लिए कोई नियम नही है। वह जब जिसका जहाँ चाहे रगमच पर आह्वान कर सकता है।

गद्य-प्रयोग

शकरदेव के सभी नाटको मे गद्य का प्रयोग मिलता है। प्रारम्भिक नाटको मे पद्य का बाहुल्य है और गद्य का प्रयोग सूत्रधार ही कथा-प्रसगो को सयुक्त करने के उद्देश्य से करता चलता है। अन्य पात्र प्राय कविता मे कथोपकथन करते दिखाई पडते हैं। उनके सभी नाटको का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन्होने अपने अन्तिम नाटको मे कथोपकथन के लिए गद्य को प्रमुख स्थान दिया है। इनमे पद्य का प्रयोग केवल गीतो के रूप मे यत्र-तत्र दिखाई पडता है। प्रमाण के लिए 'पारिजात हरण'

नाटक मे सत्यभामा और श्रीकृष्ण का सवाद देखिए—

सत्यभामा—हे स्वामी हामाक पारिजात तरु तुहु दिते सत्य कय वोल।

श्रीकृष्ण—हे प्रिये, पापी नरकासुर देवता सवक जनिये सर्वस्व आनल। आगु ताकेक मारि देवकार्य साध। पाछु पारिजात आनो।

सत्यभामा—आ स्वामी। उचित कहत। आगु देवकार्य साधि सेहि यात्रा ये पारिजात आनह। हामु तोहारि सग चलवो।

श्रीकृष्ण—हे प्रिये! तुहु स्त्री जाति। युद्ध समये तोहारि उचित गमन नाहि

सत्यभामा—हे स्वामी! हामार वहुत सतिनी। इवार पारिजात आनि कौन स्त्रीक देव, ताहे वुझये नाहि। हामु कदाचितो तोहारि सग नाहि छोड़व।

श्रीकृष्ण—हे प्रिये! तोहु यदि हामा के सग चलव तव सत्वरे साजह!

इस उद्धरण मे यह स्पष्ट होता है कि गद्य का प्रयोग प्राय कथा की गति को आगे वढाने के उद्देश्य से किया जाता है। भावो और भावनाओ को जागृत करने के लिए गीतो का प्रयोग होता है किन्तु घटनाओ और क्रिया-कलापो का ज्ञान गद्य द्वारा कराया जाता है। यद्यपि इस गद्य मे वह तीव्रता एव प्रवाह नही है जो उच्चकोटि के नाटको मे अपेक्षित है तथापि १५वी शताब्दी के भाषा-गद्य मे विचार-प्रदर्शन की इतनी क्षमता थी, यही क्या सन्तोषप्रद नही है।

गद्य का अपेक्षाकृत निखरा रूप शकरदेव के अन्तिम नाटक 'रामविजय' मे दिखाई पडता है। इस नाटक मे पद्य भाग की अपेक्षा गद्य भाग कही अधिक मात्रा मे दिखाई पडता है। कही-कही तो सम्पूर्ण वार्तालाप गद्य के माध्यम से ही दिखाई पडता है। उदाहरण के लिए जनक और विश्वामित्र का वार्तालाप देखिए—

विश्वामित्र—हे महाराज जनक, पुत्र पौत्र सहित तोहो चिरकाल सुखी होव! तोहार सत्कारे परम सन्तोष भेलो।

सूत्र—जनक राजा रामलक्ष्मण रूप निरेखि परम आश्चर्य हुआ मुनिते पूछत।

जनक—हे ऋषिराज, उहि वालक दुयो अद्भुत मूरति देखि परम आनन्द भेलो। काहेर कुमार, कि देव, किवा मानुष, हामु वुझये नाहि पारि। उहि सुकुमार दुहोक देखि हृदय सन्तोष भेलो।

विश्वामित्र—हे महाराजा, तोहारि परिचय नाहि। ये दशरथ राजा तोहार परम मित्र ताहेर कुमार यहो हमार परमशिष्य। आरा सवर नाम रामलक्ष्मण तोहारि दुहिता सीतार स्वयवर देखिते इहा आवल थिक

इह जानि सत्वरे समाज मिलाइ, महेशक धनु आनह !

सूत्र—जनक राजा महाहर्षे रामलक्ष्मणक आलिंगि बोलल ।

जनक—आ धन्य-धन्य दशरथ राजा । ऐथन परम सुकुमार कुमार जाहेर गृहे ताहेर भाग्यक महिमा कि कहब ।

सूत्र—ओहि बुलि राजा परम उत्सवे शख शबदे सम्वाद नाद बहुत बजावल । मणिमन्त्र मन्त्रीक आदेश कयल ।

जनक—ऐये मणिमन्त्र, ये नृपति सब वासा करि रहिछे ताहाक आनि सत्वरे समाज मिलाव ।

सूत्र—इति श्रुत्वा मणिमन्त्र निष्क्रान्त ।

सीता—हा हा सखी, आहे कनकावती, कि निमित्ते सभात हरिष बाजन सुनिए, कौन राजा आवल सत्वरे जान गिया । हामाक वाम अग फान्दे । कौन कुशल कहे इहा जानये नाहि ॥

इस उद्धरण मे महर्षि और राजर्षि के वार्तालाप का आभास मिलता है । राजर्षि जनक रामलक्ष्मण के रूप पर मुग्ध होकर उनका गुणगान करते हैं और महर्षि विश्वामित्र जनक की मैत्री का आभास देते हुए अपने शिष्यो के आगमन का प्रयोजन बताते है । राजर्षि जनक से धनुष-यज्ञ की तैयारी का सकेत करते हैं । इस वार्तालाप से घटनाक्रम आगे बढता है । जनक और दशरथ की मैत्री का आभास मिलता है । विश्वामित्र के शिष्यो के आगमन का प्रयोजन प्रतीत होता है । यह वार्तालाप तत्कालीन नाटकीय शैली का अच्छा नमूना है । यह जन-भाषा शिष्टजनो के योग्य और शील सौजन्य की परिचायक है । जनभाषा मे सस्कृत शब्दो का प्रयोग बडा ही हृदयग्राही बन गया है ।

इसी प्रकार 'पत्नि प्रसाद नाटक' मे कृष्ण और गोप वृन्द का वार्तालाप कथा की गति को आगे बढाने वाला और उनके सहज स्वभाव को प्रकट करने वाला प्रतीत होता है ।

बालकसब—हे राम, कृष्ण, तुहु हमार परम जीवन, आनु परभाते भोजन कय नाहि । हामि दधि अन्न सगे नाहि आनल । क्षुधाये परम पीडित हुयायि । इहा जानि क्षुधानिवारण उपाइ चिन्तह ।

श्रीकृष्ण—(बालक सबक वचन शुनिये श्री कृष्ण विहसि बोले) हे सखि सब, आ भाल कहल, हामु ये बोलो ता शुनह । ओहि आश्रमक मध्ये विप्र सब स्वर्ग कामे यज्ञ करिते छे । वेदत शास्त्रत पारगत परम सम्पन्न । तारा सबक आगे ददार हमार नाम धरिये अन्न प्रार्थना कय गिया ।

बालकसब—हे गुरु सब, तोरा सब परम पण्डित यज्ञदान व्रते परम निर्मल

हुयाथिक। ओहि अशोक मूले गोपगण सहिते रामकृष्ण परम क्षुधातुर हुया अन्न पाथि पठावल अवे श्रद्धा आछय अन्न व्यजन प्रचुर देवह। अन्न दाने येन पुण्य आपुने जानह, अज्ञानक सिखावह। तोरा सब आगे हामु कि कहव ?

चण्डभरी—आहे गोवाल सव, हम वेदत शास्त्रत परम पारगत यज्ञव्रत दाने। परम पवित्र, हामो सव भू देवता, हामाक सर्व लोके पूज्य। नन्द सुत कृष्ण हामुक आग कौन हमर।

वालकसव—(कृष्ण से) हे कृष्ण, तोहाक कदर्थना कयल।

इस गद्य भाग से चण्डभारती का चरित्र, कृष्ण का महत्त्व, गोपालो की सहज प्रवृत्ति और कृष्ण मे उनकी श्रद्धा का परिचय मिलता है। इस प्रकार शकरदेव ने जिस गद्य का प्रयोग किया है उसमे चरित्र-चित्रण, कथा विस्तार आदि की क्षमता पाई जाती है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि उस काल के जनसामान्य की भाषा कितनी मधुर एव भावपूर्ण थी। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मनोभावो को प्रकट करने की क्षमता इस भाषा मे विद्यमान थी। रामायण एव श्रीमद्भागवत की कथाओ को पद्य-गद्य के माध्यम से अभिनेय बनाकर नाटको के द्वारा आपद्काल मे जन-सामान्य की रुचि का परिमार्जन करना समाज-कल्याण की दृष्टि से कितने महत्त्व की बात थी। इन्ही नाटको ने हमारी सास्कृतिक चेतना का उन्नयन किया।

भाषा

शकरदेव की भाषा १२वी शताब्दी मे प्राप्त बनारस के आसपास की भाषा से बहुत-कुछ साम्य रखती है। अभी शोध द्वारा १२वी शताब्दी की बोलचाल की भाषा का परिचय प्राप्त हुआ है। उस भाषा मे भोजपुरी एव मैथिली का पुट पाया जाता है। आज भी बनारस जिले के पूर्वी भाग की भाषा प्राय वही है जो शकरदेव के नाटको के गद्य भाग मे पायी जाती है। इस विषय मे विस्तारपूर्वक विचार पृथक् पुस्तक मे[1] किया जायगा।

टिप्पणी—'उक्त व्यक्ति प्रकरण' मे ११वी शताब्दी मे प्रचलित काशी के आसपास की भाषा का नमूना मिलता है। उस भाषा से महापुरुष शकरदेव की भाषा मे कई अशो मे साम्य पाया जाता है। शकरदेव ने सारे उत्तर-भारत का भ्रमण किया था। उन्होने वदरीनाथ मे 'वरगीत' लिखे जो सभी यात्रियो

१ भाषा नाटक चार भाग में प्रकाशित हो रहे हैं। प्रथम भाग में शकरदेव की भाषा का विवेचन भाषा विज्ञान की दृष्टि से किया गया है।

को वोधगम्य होने की दृष्टि से विरचित किए गए होगे। अत उनकी भाषा मिश्रित ही रही होगी।

उपसंहार

शकरदेव के नाटको की अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता है, वे सस्कृत, प्राकृत या अन्य किसी नाट्य परम्परा का अनुसरण नही करते। उनमे अक एव दृश्य-विभाजन का नितान्त अभाव है। अधिकतर पात्र नाटक के उपोद्घात से लेकर परिसमाप्ति तक निरन्तर कार्य-व्यापार मे रत परिलक्षित होते हैं। यहाँ, पृष्ठ-भूमि के रूप मे किसी साज-सज्जा का विधान नही होता, समय और दूरी की सूचना गान एव नृत्य के माध्यम से दे दी जाती है। प्रारम्भिक गान के अनन्तर शीघ्र ही रगमच पर सूत्रधार का प्रवेश होता है, वह नाटक की घोषणा करता है और आद्योपान्त समस्त प्रदर्शन का सचालन नृत्य, गीत और व्याख्यात्मक समीक्षा द्वारा करता है। नाटक जन-बोली में रचे गए है, इस जन-बोली मे व्रज से आसाम तक की प्रचलित जनभाषा का समावेश पाया जाता है। इसकी विशेषता यह है कि इसमे लचीलापन, ध्वन्यात्मक माधुर्य, अपभ्र श की ओजस्विता आदि गुण स्वाभाविक रीति से पाए जाते हैं और इन सबके सामूहिक परिणाम स्वरूप प्रगीत और पद्यात्मक नाटक का आभास होता है। नाटक मे गद्यात्मक सवाद भी मुहावरो मे होता है, सूत्रधार का विवरण इसी प्रकार की भाषा मे मिलता है, कभी-कभी गीत की भाषा का भी प्रयोग गद्य मे होता है। बीच-बीच मे सस्कृत के श्लोको का समावेश रहता है। यदा-कदा करुणोत्पादक कथानक के साथ असामीया छन्द 'पयारस' का भी योग मिलता है। नाटको मे हमे जन-भाषा का आदि रूप प्राप्त होता है, किन्तु, न तो यह पद्यात्मक माधुर्य समन्वित नितान्त गद्य ही होता है और न ही यह परिमार्जित गद्य ही होता है। नाटक का प्रारम्भ सस्कृत मे नान्दी से होता है तथा प्रारम्भ मे ही नाटक के पात्रो और विषय की सूचना दे दी जाती है। प्रारम्भ मे ही नाटक के नायक की स्तुति की जाती है। सूत्रधार और उसके सगी का वार्तालाप भी अत्यन्त सक्षिप्त होता है। यह वार्तालाप सस्कृत के आमुख अथवा प्रस्तावना का अनुसरण करता है। प्रवेशगीत के साथ नायक का प्रवेश होता है। नायिका तथा अन्य पात्र भी समुचित नृत्य-मुद्रा मे प्रवेश करते हैं।

भरत वाक्य

नाटक की परिसमाप्ति मगलगीत अथवा मुक्ति मगल महिमा (नायक

की स्तुति) के साथ होती है। उस मगलगीत अथवा महिमा मे सामाजिक के प्रति शुभकामना प्रकट की जाती है। केवल 'पत्नीप्रसाद' नाटक ऐसा है जिसमे भरत वाक्य नही मिलता। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह नाटक शकरदेव की प्रथम नाट्य कृति थी। इसके उपरान्त उन्होंने भरत वाक्य की योजना आवश्यक समझी और अपने सभी शेष नाटको मे मगलगीत के द्वारा सामाजिक की कल्याण कामना प्रकट की।

अभिनय

सम्भवत शकरदेव के नाटको का अभिनय पुण्यपर्व के अवसर पर देवालय एव नामघरो मे होता रहा होगा। जन-नाट्य शैली में विरचित होने के कारण ये नाटक खुले मैदानो मे वैष्णव भक्तो के द्वारा अभिनीत होते रहे होंगे। किन्तु इस सम्बन्ध मे कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता। केवल एक प्रमाण ऐसा मिलता है कि उनके शिष्य माधवदेव की माता के प्रथम श्राद्ध के अवसर पर 'पत्नीप्रसाद' नाटक सर्वप्रथम अभिनीत हुआ था।

सगीत

शकरदेव दार्शनिक नाट्यकार के अतिरिक्त सगीत शास्त्र के ज्ञाता भी थे। उनके गीत शास्त्रीय सगीत से परिपूर्ण हैं। उनके गीत के दो विभाग हैं—ध्रुव और पद। ध्रुव को उत्तर भारत के स्थायी अथवा अस्थायी और दक्षिण भारत के पल्लवी के समकक्ष माना जा सकता है। पद भाग मे कतिपय छन्द पाए जाते हैं और अन्तिम चरण मे शकरदेव का नाम पाया जाता है। प्रत्येक गीत के साथ राग का नाम मिलता है। रागो मे अहिर, आसावरी, भूपाली, धनश्री, गौरी, कल्याणी, केदारा, गौरधन श्री, नाटमल्लार, श्री, सुहाइ, तुड वसन्त और वसन्त अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

शकरदेव की यह बडी विशेषता है कि उन्होने सस्कृत के साथ जन-भाषा, सगीत मय पदो के साथ परिमार्जित गद्य, शास्त्रीय नाट्य विधान के साथ लोक-नाट्यशैली, विद्वन्मण्डली के साथ अशिक्षित जन-समुदाय का भी सदा ध्यान रखा। दोनों पद्धतियो के सामजस्य से उन्होंने नाट्य साहित्य का एक नया रूप निर्मित किया।

पद्य-नाटक की विशेषता

सस्कृत आचार्यों ने कविता और नाटक दोनो को काव्य की परिधि मे रखा है। दोनो के रचयिता कवि कहलाते हैं। सस्कृत काव्य-शास्त्र मे नाट्य-कार भी कवि ही माना जाता है। काव्य की इन दोनो विधाओ का लक्ष्य एक ही होता है—पाठक या सामाजिक को रसानुभूति कराना। हाँ, लक्ष्य-प्राप्ति के माध्यम मे अन्तर अवश्य हो जाता है। श्रव्य-काव्य मे कवि पाठक या श्रोता की कल्पना-शक्ति को उद्‌बुद्ध करके उसके अन्तश्चक्षु के सम्मुख कथा-प्रवाह या अलकृत रचना के बल से रमणीय दृश्य उपस्थित करता है, किन्तु नाट्यकार क्रिया-व्यापार की बहुलता, कथोपकथन की विदग्धता एव नृत्य-सगीत की मनो-हारिता से सामाजिक को सरलतापूर्वक आनन्द-विभोर बनाना चाहता है। आनन्द-प्राप्ति के लिए सत्त्वोद्रेक अनिवार्य है। सत्त्वोद्रेक तभी होता है जब मन के सकल्प-विकल्पो का सवथा तिरोधान हो जाता है। इस स्थिति पर पहुँचाने के लिए श्रव्य-काव्य हमारे अन्त करण मे जो दृश्य उपस्थित करना चाहता है, वह पाठक के अनुभव के 'कैनवास' पर उसकी कल्पना की तूलिका से निर्मित होता है। यही कारण है कि जिनका अनुभव छिन्न-भिन्न और जिनकी कल्पना-शक्ति असमर्थ होती है, उनको उत्तम-से-उत्तम काव्य का भी रसास्वादन नहीं हो पाता। अत श्रव्य-काव्य का रस अनुभवरहित व्यक्ति के लिए अप्राप्य होता है। इसके विपरीत दृश्य-काव्य मे नाटकीय क्रिया-व्यापार, नाटकीय कथोपकथन, नृत्य-सगीत एव अभिनेता के कला-नैपुण्य के बल से रगमच पर और रचना-चारुता से गोष्ठियो मे सामान्य जनता भी आनन्दोपलब्धि कर पाती है। श्रव्य-काव्य और दृश्य-काव्य मे यही मुख्य अन्तर है।

अब विचारणीय विषय यह है कि काव्य पर आधारित नाटक और नाटक पर आधारित काव्य मे क्या अन्तर है।

काव्य-नाट्य और नाट्य-काव्य मे अन्तर

अग्रेजी मे एक विशेष प्रकार का काव्य-नाटक Closet Drama कह-

लाता है। ऐसे नाटको की अभिनेयता के सम्बन्ध मे दो मत हैं। प्रो० एच० ए० बीयर्स का मत है कि ये नाटक पाठ्य हैं, अभिनेय नही। अभिनेय नाटको की अपेक्षा इनकी विशेषता यह है कि इनकी शैली अलकृत, इनके भाव सबल, इनकी क्रियाशीलता मन्द और इनके भाषण प्रौढ होते हैं। इसका कारण यह है कि दोनो प्रकार के नाट्यकारो का लक्ष्य भिन्न होने से दोनो की पद्धति पृथक् होती है।

प्रो० बीयर्स का विरोध करते हुए हैज़लिट और लैम्ब का कथन है कि काव्य-रूपक को नाटक मानना नाटक के साथ अन्याय करना है। इन्हे नाटक नही, नाटकीय काव्य ही कहना चाहिए। प्रो० चैंडलर ने इस विषय पर गहन चिन्तन के उपरान्त अपना मत इस प्रकार दिया है—"The poetic drama, then, strictly defined, is neither the closet-drama nor the dramatic poem It is a play poetic and dramatic as to form and content—an acting play in verse possessing the beauty and ideality which we associate with poetry at its best The true poetic play is not one merely stuffed with verse, it is one in which the verse is an essential and inevitable overflowing of the playwright's thought It must also be theatric, for dramatic talent by hard study, and generally by long practice".

इससे यह निष्कर्ष निकला कि काव्य-रूपक का रगमचीय, नाट्यकला-युक्त और कवित्वमय होना आवश्यक है और इसे पाठ्य-नाटको (Closet drama) से भी भिन्न होना होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य-रूपक काव्य-तत्त्वो की प्रधानता के साथ-साथ यदि अभिनेय एव नाट्य-कलासयुक्त हो तभी वे आदर्श नाटक पद के अधिकारी हो सकेंगे। अभी तक पद्य-रूपको को पाठ्य-नाटक समझकर रगमच से दूर ही रखा जा रहा था। भारत मे तो क्या इगलैण्ड मे सत्रहवी से उन्नीसवी शताब्दी तक मुक्तकछन्दो मे विरचित अनेक नाटक, जो आज रगमच पर सफलतापूर्वक अभिनीत हो रहे हैं, अनभिनेय मानकर कभी रगमच पर प्रयुक्त हुए ही नही। इटली, फ्रास, जर्मनी और स्कैंडिनेविया मे काव्य-रूपको का विकास उन्नीसवी शताब्दी में होता रहा। कतिपय आलोचक इन नाटको के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँच गए हैं कि काव्य-रूपक ही नाटक की सर्वश्रेष्ठ कोटि हैं।[१]

---

१. "The greatest examples of drama are poetic drama, and the highest schools of drama are and must ever be schools of poetic drama."

—Mr. Jones

गद्य-नाटक और पद्य-नाटक

गद्य के माध्यम से नाटक का अध्ययन करने का अभ्यासी पाठक एव दर्शक स्वभावत यह प्रश्न उठा सकता है कि पद्य-रूपक मे क्या विशेषता है जो गद्य-नाटक पूर्ण नही कर सकता ? यदि केवल कविता का ही आनन्द लेना है तो उसके लिए रगशाला मे जाने का कष्ट कोई क्यो करे ? वह तो घर बैठे सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। अत कविता के माध्यम से नाट्य-रचना की आवश्यकता क्या ?

यह तो निश्चित है कि पद्य या गद्य नाटक मे साधन-मात्र हैं, साध्य तो कुछ और ही है। गद्य को माध्यम बनाकर भी उच्चकोटि के नाटक तभी विरचित होते हैं जब पात्रो की भाषा नित्यप्रति व्यवहृत भाषा से कुछ अधिक सौष्ठव रखती है। हम दैनिक जीवन मे जिस भाषा का व्यवहार करते हैं वह नाट्यकार की उद्देश्य-सिद्धि मे पूर्ण सफल नही हो पाती। श्रेष्ठ नाटक की पद-रचना विशिष्ट तथा शब्द-मैत्री निराली होती है। कभी-कभी कवि वाक्य मे व्याकरण के नियमो का उल्लघन कर शब्दो का पारस्परिक सम्बन्ध अस्त-व्यस्त कर देता है। वाक्यो को अधूरा अथवा असमाप्त छोडकर नाट्य-सौष्ठव बढाने का प्रयास करता है। गद्य की यह शैली सामान्यत नित्यप्रति के वार्त्तालाप की शैली से पृथक् होती है।

ठीक इसी प्रकार पद्य-रूपक की शैली शुद्ध काव्य-शैली से भिन्न होती है। रगमच के गद्य मे काव्य के समान ही व्यग्य एव वक्रोक्ति का सहारा लेना पडता है। इसी प्रकार पद्य-रूपक की कविता मे गद्य की चारुता को समाविष्ट करना पडता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि पद्य-रूपक की कविता उतनी ही स्वाभाविक होनी चाहिए जितनी अन्य नाटको की गद्य-रचना। दर्शक रगमच पर ध्वन्यात्मक गद्य सुनकर इस कारण भी मुग्ध होता है कि उसे नित्यप्रति की व्यवहृत भाषा मे वैसी सरस पदावली सुनने को उपलब्ध नही होती। किन्तु रगमच की भाषा को वह अपनी भाषा से इतनी विलक्षण नही समझता, जिसके कारण प्रयोगकर्त्ता को वह अपरिचित एव अनभिज्ञ मानकर उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर ले। तथ्य तो यह है कि भाषा का आनन्द अभिनय के आनन्द से भिन्न कोई अस्तित्व नही रखता। दोनो एक-दूसरे से अभिन्न हैं। पात्रो के कथोपकथन का शैलीगत आनन्द गद्य अथवा पद्य दोनो मे अज्ञात रूप से होना चाहिए, अन्यथा नाटक का उद्देश्य अपूर्ण रहेगा।

एक ही नाटक मे गद्य और पद्य दोनो का मिश्रण भी देखा जाता है। एक ही पात्र गद्य मे वार्त्तालाप करते-करते कविता करने लगता है। यह स्थिति

तो और भी अवाञ्छनीय है, क्योंकि दर्शक के मन को इस परिवर्त्तन से सहसा एक धक्का लगता है। आज का दर्शक नाटक मे सगीत सुनकर प्रसन्न होता है, किन्तु गद्य के उपरान्त सहसा पद्य मे कथोपकथन सुनते ही उसके कान खडे हो जाते हैं। कालिदास या भवभूति के युग का सामाजिक दोनो प्रकार के वार्त्तालाप का अभ्यासी रहा होगा, क्योंकि यह धारणा बनी हुई थी कि उच्च वर्ग का व्यक्ति काव्यमय वाणी का प्रयोग करता है और निम्न स्तर का पात्र ग्रामीण भाषा का।

आज के बदलते युग मे प्राचीन मान्यताएँ समाप्त हो रही हैं। आज उच्चवर्ग, धनीवर्ग, निम्नवर्ग, निर्धनवर्ग का अन्तर मिटता जा रहा है। आज के समाजवादी जीवन मे इस प्रकार के भेद-भाव को स्थान नही दिया जा सकता। अत कोई ऐसा माध्यम निकालना ही होगा जो इस अन्तर का उन्मूलन कर सके। अग्रेजी मे ईट्स और इलियट ने एक नया प्रयोग प्रारम्भ किया। उन्होंने पद्य-रूपको की रचना की। उन्होने इस बात का अनुभव किया कि पद्य की उपेक्षा नाटको मे सीमा तक पहुँच चुकी है, नाटको से कविता को सर्वथा बहिष्कृत कर दिया गया है। यह स्थिति अभीष्ट नही।

उनका मत है कि काव्य मे इतनी शक्ति है कि वह प्राय सभी प्रकार के गहन-से-गहन विचारो को नाटक मे अभिव्यक्त कर सकता है। यदि कोई विचार कविता मे प्रकट नही किया जा सकता तो उसके लिए हमे निराश न होकर काव्य-शक्ति को समृद्ध बनाना होगा। उनका तो यहाँ तक कहना है कि यदि किसी दृश्य का विधिवत् प्रदर्शन कविता द्वारा नाटक मे नही किया जा सकता हो, तो उस दृश्य को ही बहिष्कृत कर देना चाहिए न कि कविता को नाटक से पृथक् करना चाहिए। जब क्रमश दर्शक इस पद्धति के अभ्यस्त हो जायँगे तो उन्हें काव्यरूपक से वितृष्णा न होगी और उस स्थिति मे नाटक मे गद्य का ही प्रवेश उन्हें खटकने लगेगा। इसकी सफलता के लिए नाट्यकार को सदा साव-धान रहना पडेगा कि पद्य-रूपको मे काव्यमय भाषा को वही स्थान दिया जाय, जहाँ पात्रो की भावनाएँ इतनी सान्द्र हो गई हो कि वह काव्य के अतिरिक्त और किसी भाषा मे अपने भावो को प्रकट कर ही न पाएँ। इस प्रकार पद्य-रूपको मे काव्य को यथोचित स्थान पर ही प्रयुक्त किया जाय।

इस पद्धति को स्पष्ट करने के लिए शेक्सपियर के 'हेमलेट' या प्रसाद के 'करुणालय' का उदाहरण दिया जा सकता है। 'हेमलेट' के प्रथम दृश्य मे श्रोता को यह ज्ञात नही होता है कि वह कविता सुन रहा है। सामान्य बोल-चाल की भाषा के ऐसे पद्य मे वार्तालाप होता चलता है कि दर्शक को यह ज्ञात

भी नही होता कि पात्र पद्य मे बोल रहे है। किन्तु उनके पद्य का प्रभाव गद्य से कही अधिक देखा जाता है। 'करुणालय' मे भी यही पद्धति अपनाई गई है।

पद्य-रूपक क्यो ?

हमे समाज मे ऐसे व्यक्तियो का समुदाय मिलता है जिनके लिए काव्य-ग्रन्थ पढकर आनन्द उठाना तो दुष्कर है ही, जो काव्य-सगीत से भी पराड्मुख रहते हैं। किन्तु वे अभिनय देखने मे रुचि रखते है। ऐसे सामाजिको को भी दृष्टि मे रखकर यदि पद्य-रूपक लिखा जाय तो अभिनय पर आधारित काव्य-रूपक का रसास्वादन कराने से नाट्यकार समाज की बडी सेवा कर सकेगा। ऐसे नाटको मे नाट्यकार को प्रतीको की योजना, रगमच की सादगी, वेशभूषा की स्वाभाविकता, शब्दो की ध्वन्यात्मकता का बल मिल जाता है। इन्ही के सहयोग से पद्य-नाटक रगमच पर सफल हो सकता है।

हिन्दी लोक-नाट्य शैली-शिल्प

प्रसिद्ध नाटयकार बर्नार्ड शॉ ने एक बार नाटको की उत्पत्ति के विषय मे अपना मत प्रकट करते हुए कहा था—नाटक हमारी दो उद्दाम प्रवृत्तियों के सम्मेलन मे पैदा हुआ है—नृत्य देखने की प्रवृत्ति और कहानी सुनने की प्रवृत्ति। इस उक्ति को यदि अपने देश के वातावरण मे रखकर देखें तो नृत्य और इति-वृत्त के साथ सगीत को और समाविष्ट कर देना होगा। यूरोप की जन-रुचि के विषय मे तो नही कह सकते किन्तु हमारी लोक-रुचि नृत्य और सगीत के उप-रान्त ही कहानी को स्थान देती है। उसका प्रमाण यह है कि ग्रामीण जनता को यदि नृत्य देखने और मधुर सगीत सुनने को मिल जाये तो सुसगठित इतिवृत्त की उन्हे अपेक्षा नहीं रहती।

विद्वानो का मत है कि लोक-नाटय का मूल आधार नृत्य है। भारत ही नहीं, विश्व के विविध भागो मे लोक-नाटय को नृत्य पर अवलम्बित माना जाता है। प्रमाण यह है कि जापान का 'नोड्रामा' वहाँ के 'ता-माई' नामक नृत्य का विकसित रूप है। यह नृत्य धान की फसल पकते समय कृपक-हृदय के उल्लास को अभिव्यक्त करता था, जो कालान्तर मे 'नोड्रामा' नाम से विख्यात हुआ।

यूनान मे फसल काटते समय एक विशेष प्रकार का नृत्य प्रचलित था जिसे 'द सैक्रेड थ्रेशिंग फ्लोर ऑफ टिप्टोगम्स' कहते थे, जिसने समय पाकर नाटक का रूप धारण कर लिया। उल्लास-सूचक नृत्यो के अतिरिक्त पूर्ण आयु प्राप्त करने वाले मृत-व्यक्ति के शव को संस्कार के लिए ले जाते समय भी अनेक देशो मे नृत्य की प्रथा थी। ई० पू० पाँचवी शताब्दी से थेसियम जाति में यह प्रथा पायी जाती थी। रोमन-जाति मे मृतक को दफनाने के लिए ले जाते समय पूर्वजो की आकृति के मुखौटे पहनकर जलूस के साथ नृत्य करने की प्रथा थी। वर्मा के नाट, जापान के कगूरा, इल्यूसिनियम के रहस्य और मिस्र के ओसिरिस जातियो मे मृत-व्यक्तियो की उपासना और तत्सम्बन्धी नृत्य प्रचलित

थे। रिज्वे महोदय का मत है कि ये विशेष नृत्य, नाटक की उत्पत्ति के मूल आधार हैं।

वेद मे नृत्य

हमारे देश मे भी नृत्य का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। वेदो मे सर्वप्रथम इसका उल्लेख ऋग्वेद मे मिलता है। रगमच के ऊपर अपना उल्लासमय नृत्य दिखलाने वाली नर्तकी की समता कवि, प्रात काल प्राची क्षितिज के रगमच पर अपने शरीर को विशद रूप से दिखलाने वाली उषा के साथ करता हुआ अपनी कला-प्रियता का परिचय देता है।

यजुर्वेद और आपस्तम्ब श्रौतसूत्रो मे ऐसे नृत्य का उल्लेख मिलता है, जिनमे आठ दासी कन्याये सिर पर जल के घडे रखकर वाद्य-सगीत के 'माजीली' गीत गाती हुई घूम-घूमकर नाचती थी।

हिन्दू-मन्दिरो मे देवदासियो के नृत्य की परम्परा अति प्राचीन प्रतीत होती है। काश्मीर महाराज जयापीड के पुण्ड्रवर्धन मन्दिर मे नृत्य करने वाली नर्तकी का पटरानी तक बन जाना प्रसिद्ध घटना है। किन्तु यह समझना भ्रामक होगा कि मन्दिरो मे पुरुष नर्तको का सर्वथा अभाव था। 'शिलपादिकारम्' नामक तमिल के अति प्राचीन काव्य एव चोलकालीन शिलालेखो मे पुरुष नृत्यकारो के शाक्कैकूत्तु नृत्य का उल्लेख मिलता है। मन्दिरो मे नृत्य-प्रदर्शन के लिए नियत स्थान नाट्य-मडप, नट-मन्दिर, कूत्तम्बलम् नाम से अभिहित थे।

हमारे देश मे नृत्य-कला इतनी विकसित हुई कि इसने नैतिकता के पक्षपातियो को भक्ति-परम्परा के द्वारा और भौतिकवादियो को लौकिक शृङ्गार के रसास्वादन से सन्तुष्ट कर दिया। प्रथम वर्ग मन्दिरो और मठो मे नाट्यशास्त्र के नियमो के अनुसार भगवान् की लीलाओ को नृत्य-नाटको के रूप मे देखता रहा। दूसरा ग्रामीण वर्ग शास्त्रीय नियमो से मुक्त रहकर अपनी मौलिकता के बल से नृत्य को सगीत रूपको मे विकसित करता रहा। प्रथम कोटि के नृत्यकार आन्ध्र मे कूचिपुडि, तंजोर मे भागवतकम् और आसाम मे ओजापलि नाम से प्रतिनिधि नाट्यकार माने गए किन्तु शास्त्रीय नियमो से अपरिचित लोक-नाट्यकार साहित्य के क्षेत्र से बहिष्कृत समझे गए। ज्यो-ज्यो नागरिक जीवन और ग्रामीण जीवन का भेद-भाव मिटता जा रहा है त्यो त्यो लोक-कवि की उत्कृष्ट रचनाएँ सम्मान की अधिकारिणी समझी जा रही हैं।

हम पूर्व मे कह आए हैं कि नृत्य-कला नाटको की जननी है। इस का

का वरद हस्त मिलने पर काव्यो और पुराणो का भी नाटक रूपान्तर उपस्थित किया गया। उडीसा के शिलालेखो के आधार पर यह प्रमाणित हो चुका है कि जगन्नाथपुरी के मन्दिर मे सन् १४७७ ई० मे प्रतापरुद्रदेव की प्रेरणा से जयदेव का 'गीत गोविन्द' नृत्य-रूप मे अभिनीत हुआ। एक शिलालेख के आधार पर यह प्रमाणित हो गया है कि उस समय जगन्नाथ जी के मन्दिर मे गीत गोविन्द का ही गान विहित था। १८वी शताब्दी मे कैशिकी पुराण का नाटक रूपान्तर पूगपाणि नरसिह महाराज की आज्ञा से खेला गया।

दूसरी ओर जनकवियो ने गूढ भाषा से अपरिचित जनता के लिए पौराणिक, धार्मिक, सामाजिक, एव राजनीतिक आख्यानों को मनोरजक रीति से हृदयगम कराने के लिए नृत्य को प्रधान साधन बनाया। वे लोग घटनाक्रम के विकास और पात्रो के वार्तालाप को शब्दो के अतिरिक्त नृत्य की मुद्राओ से अभिव्यक्त करते रहे। जनकवियो ने नृत्य, सगीत के उपरान्त काव्य-तत्व को महत्व दिया। वे घटनाक्रम को नाटकीय स्थिति तक शास्त्रीय विधि-विधान के अनुसार नहीं ले जाते। वे घटनाओ को स्वच्छन्द रीति से विचरण करने देते हैं। यदि काकतालीय न्याय से शास्त्रीयता का निर्वाह हो जाए, तो भी उन्हे इसका भान तक नही होता। नाट्यशास्त्र के आधार पर कतिपय विद्वानो का मत है कि प्रारम्भ मे हमारे देश मे नृत्य की एकरूपता थी। किन्तु स्थानीय प्रभाव के कारण कालान्तर मे इसके अवान्तर भेद होते गये। आज मूलत चार रूपो मे—भरतनाट्यम्, कथाकली, मनीपुरी, और कत्थक नृत्य मे इसकी अभिव्यक्ति हो रही है।

डाक्टर कीथ का मत है कि वैदिक यज्ञो के अवसर पर होने वाला लोक-नृत्य मन्दिरो का आश्रय पाकर यात्रा नाटक, रामनाटक, भरतनाट्य आदि मे विकसित हो गया। इस प्रकार लोक-नाटको की दो धाराएँ हो गई। एक धारा से धार्मिक नृत्य-नाटको की परम्परा चली और दूसरी परम्परा लोक-नाटकों के रूप मे विकसित होती रही। इन धार्मिक नाटकों ने कला का एक स्वरूप धारण किया किन्तु सामान्य जनता ने दूसरे नृत्य-नाटको को केवल विनोद के लिए ग्रहण किया और उनकी कलात्मक बारीकियो को उपेक्षित माना।

जन-सामान्य के लिए पवित्र पर्व और ऋतु-सम्बन्धी उत्सव मूलत मनो-विनोद के उत्तम अवसर थे। पडित और पुजारियो ने धार्मिक उत्सवो का जब पारलौकिकता से ही नाता जोडा और सस्कृत नाटक राज-प्रासादो तक सीमित रह गया तो सामान्य जनता ने विनोद का स्वतन्त्र साधन निकाला। आर्यों के अति प्राचीन पर्व होलिका-दहन को लीजिए। (कुछ विद्वानो का मत है कि

आर्यों के भारत मे आने से पूर्व यह पर्व मनाया जाता था क्योंकि इससे मिलता-जुलता रूप यूरोप मे आज भी मिलता है। गत वर्ष को मृतक मानकर उसका दाह सस्कार किया जाता था और उस अवसर पर नृत्यगीत के द्वारा जनता मनोविनोद किया करती थी।) भारत मे जनता का सबसे अधिक उल्लासकारी यह पर्व आज भी तद्वत चलता जा रहा है। इस अवसर पर नृत्य और नाट्य की छटा गांव-गांव देखने को मिलती है। होलिका मे अग्नि प्रज्वलित होने पर ग्रामीण जनता सामूहिक नृत्य-गान के द्वारा आमोद मनाती है। इस अवसर पर प्रहसन, भाण, नाटक आदि खेले जाते हैं जिनका मूलाधार नृत्य होता है।

जन-नाटक का तन्त्र

जन-नाटक से हमारा तात्पर्य उन नाटकों से है जिनके अभिनय के लिए रगमच और प्रसाधन की विशेष तैयारी नही करनी पडती। सामान्य शिक्षित व्यक्ति ग्रामीणो के लिए जिन नाटको का अभिनय करते है वे लोक-नाट्य कहलाते हैं। इन नाटकों मे कीर्त्तनियां, विदेसिया, स्वाग, रास, भवाई, गिद्दा, लडित, तमाशा, नौटकी, कुचुपुडि लैंहोरोवा आदि प्रसिद्ध है।

नृत्त, नृत्य, नाट्य

लोक-नाट्य-साहित्य को समझने के लिए नृत्त, नृत्य और नाट्य का अन्तर समझना आवश्यक है। नृत्त मे केवल अग-विक्षेप होता है और यह अग-विक्षेप ताल और लय के आश्रित होता है। दक्षिण मे अलरिप्पु और जठिस्वरम् इसी कोटि मे आते है।

• नृत्य—'नृती गात्र विक्षेपे।' नृती मे क्यप् प्रत्यय लगाकर नृत्य शब्द बनता है। भावाश्रय होने वाले नृत्य की तीन विशेषताएँ धनिक इस प्रकार लिखते हैं—

(१) नृत्य मे भावो का अनुकरण प्रधान रहता है।

(२) इसमे आगिक अभिनय पर बल दिया जाता है।

(३) इसमे पदार्थ का अभिनय रहता है।

अभिनय-दर्पणकार लिखते हैं—

आस्येनालम्वयेद्गीत हस्तेनार्थं प्रदर्शयेत्।
चक्षुर्भ्या दर्शयेद्भाव पादाभ्या तालमादिशेत्॥

'मुख मे गीत का सचार हो, हाथो की मुद्रा से अर्थ की स्पष्टता हो, नेत्रों से भावो का प्रस्फुटन हो और ताल-लय के अनुसार पद-सचरण हो।'

नृत्त और नृत्य मे अन्तर

(१) नृत्त मे अग-विक्षेपण केवल ताल और लय के सहारे होता है किन्तु नृत्य मे वह भावो के आधार पर अवलम्बित रहता है।

(२) नृत्त मे किसी विषय का अभिनय अभीष्ट नही किन्तु नृत्य मे पदार्थ का अभिनय आवश्यक है।

(३) नृत्त केवल सौन्दर्य-विधेयक है किन्तु भावाभिनय मे सहायक।

(४) नृत्त स्थानीय होता है किन्तु नृत्य सार्वभौमिक।

नाट्य

नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति के विषय मे मतभेद है। 'नाट्य-दर्पण' इसकी उत्पत्ति 'नाट्' धातु से मानता है किन्तु 'नाट्यमर्वस्वदीपिका' मे इसकी उत्पत्ति मूल धातु 'नट्' से मानी गई है। कुछ लोग 'नट्' धातु को 'नृत्' धातु प्राकृत का रूप मानते हैं। किन्तु बहुमत इस पक्ष मे है कि नाट्य शब्द 'नट्' धातु से बना है जिसका अर्थ है अभिनय करना। धनजय और धनिक ने नाट्य की ये विशेषाएँ बताई है—

(१) नाट्य को रूपक कहने का कारण यह है कि अभिनयकर्ता पर मूल-कथा के व्यक्तियो का आरोप[1] किया जाता है।

(२) नाट्य मे नायक की धीरोदात्त, धीरोद्धत आदि अवस्थाओ और उनकी वेश-रचना आदि का अनुकरण[2] प्रधान रहता है।

(३) नाट्य मे सात्त्विक अभिनय प्रमुख रूप से विद्यमान होता है।

(४) नाट्य मे वाक्यार्थ का अभिनय होता है।

(५) नाट्य रसाश्रित[3] होता है।

अन्तर

नृत्य और नाट्य दोनो अनुकरणात्मक होते हैं किन्तु प्रथम मे भावो का अनुकरण पाया जाता है और द्वितीय मे अवस्थाओ का। नृत्य मे कथोपकथन की अपेक्षा नही रहती, किन्तु नाट्य का यह आवश्यक अग है। नृत्य केवल नेत्र का विषय है किन्तु नाट्य नेत्र और श्रवण दोनो का। नृत्य मे पदार्थ का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है किन्तु नाट्य रसाश्रित होने के कारण वाक्य-अभिनय की अपेक्षा रखता है।

---

१ रूपक तत्समारोपात्।

२ अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।

३ दशधैव रसाश्रयम्।

रूपको मे नाटक

रूपक और उप-रूपको के भेद-प्रभेदो की सख्या ३० तक पहुँच गयी है। उप-रूपक नृत्य के अधिक समीप है और रूपक उप-रूपको के विकसित रूप है। रूपको मे नाटक की गणना पूर्ण विकसित रूप मे मानी जाती है। जिस दृश्य रूपक का इतिवृत्त प्रख्यात और नायक राजवश का पुरुष हो, जिसे दिव्याश्रय प्राप्त हो, जो नाना विभूति एव विलासादि गुणो से सयुक्त हो, जिसमे उपयुक्त सख्या वाले अक और प्रवेशक हो जिस काव्य मे राजाओ के चरित्र, उनके क्रिया-कलाप, उनके सुख-दुख से अनेक भावो और रसो का आविर्भाव हो वह नाटक[1] कहलाता है।

राजकीय सरक्षण मे होने वाले नाटको मे उपर्युक्त शास्त्रीय गुणों का निर्वाह अनिवार्य था। किन्तु लोक नाटको मे जन जीवन की अभिव्यक्ति स्वाभाविक थी अत लोक-नाटको का परीक्षण नाट्यशास्त्र के नियमों के आधार पर करना उपयुक्त न होगा। जन-नाटक की कलात्मकता का परीक्षण करने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि उनमे नृत्य की रमणीयता के साथ-साथ नाटकत्व किस मात्रा मे विद्यमान होता है। नाटकत्व के लिए कथोपकथन मे जितनी सुसम्बद्धता होगी, आरोहावरोह रहेगा और घटनाएँ कौतूहलवर्द्धक होगी नाटक उतना ही प्रभावशाली होगा। तात्पर्य यह है कि नाटक मे नृत्य एव कथोपकथन के अतिरिक्त घटनाओ की सुसम्बद्धता अनिवार्य है। जिन खेलो मे ये सभी गुण विद्यमान होते हैं वे उच्च कोटि के नाटक माने जाते है। किन्तु जन-नाटको मे कथानक की सम्बद्धता के लिए कार्यावस्था, अर्थ प्रकृति एव सन्धि योजना का उतना ध्यान नही रखा जाता जितना उनके समयोपयोगी और जनरुचि के अनुरूप होने का।

नृत्य के अतिरिक्त लोक-नाटक मे सब से अधिक ध्यान सगीत का रखना होता है। इसका कारण है कि अर्ध शिक्षित एव अशिक्षित जनता तक कवि-भाव पहुँचाने का वाहन मधुर गीत होता है, प्राजल भाषा नही। अर्थ-

---

[1] प्रख्यातवस्तुविषये प्रख्यातोदात्त नायक चैव।
राजर्षि वश चरित तथैव दिव्याश्रयोपेतम् ॥१०॥
नाना विभूति सयुक्तमृद्धि विलासादिभिर्गुणैश्चैव।
अक प्रवेशकाढ्य भवति हि तन्नाटक नाम ॥११॥
नृपतीना यच्चरित नानारस भाव सभृत बहुधा।
सुख दुःखोत्पत्तिकृत भवति हि तन्नाटक नाम ॥१२॥
नाट्यशास्त्र १८ अध्याय।

गाम्भीर्य से अपरिचित जनता को सगीत की सरसता, नृत्य की मुद्रा एव पात्रो के अभिनय के कारण भाषा-ज्ञान की अल्पता खटकने नही पाती। लोक-नाटक की यही सब मे बडी विशेषता है। लोक नाटको मे कथानक के मन्थर प्रवाह के मध्य नृत्य-सगीत की लघु तरगी थिरकती चलती है। इसी कारण दर्शक १० बजे रात्रि से सूर्योदय तक नाटक का रसास्वादन करता रहता है।

लोक-नाटको मे संगीत नाटक का स्थान

सगीत नाटक के नाम पर लोक-नाट्य परम्परा मे अनेक प्रकार के नाटक अभिनीत होते हैं। प्रतिभा किसी जाति विशेष या वर्ग मे सीमित नही रहती। प्रकृति के प्रागण मे विचरण करने वाले ग्राम्य-जीवन से प्रभावित होकर अनेक अर्द्धशिक्षित एव अशिक्षित व्यक्तियो ने प्रतिभा ज्ञान के बल पर ऐसी रचनाएँ की है कि जिनकी गणना सत्साहित्य मे की जाती है। अपढ जुलाहा कबीर, वश-परम्परा से शास्त्र-ज्ञान-वचित चर्मकार रैदास, ग्रामीण समाज मे परिपालित जायसी आदि मस्ती के झोंके मे जो पद कह गये वे साहित्य के शृगार बन गए। जिस प्रकार काव्य के क्षेत्र मे महानुभावो ने प्रतिभा ज्ञान के बल से उच्चकोटि का साहित्य निर्मित किया है इसी प्रकार नाटक के क्षेत्र मे भी कतिपय मेधावी ग्रामीणो ने नवीन प्रयोगो द्वारा रम्य रचनाएँ की हैं। इन विविध प्रयोगो का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है।

सर्वप्रथम अपने आनन्दोद्रेक को अभिव्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द के अभाव मे किसी ग्रामीण ने मुद्राएँ प्रदर्शित की होगी। जब शब्द किन्ही कारणो से मौन धारण कर लेते है तो अगुलि-विक्षेप के द्वारा मूक व्यक्ति अपने हृदयगत भावो को व्यक्त करने को व्याकुल हो उठता है। यही मूकाभिनय या पेन्टोमाइम कहलाता है। मूक अभिनय के पश्चात् जब नृत्य और सगीत का सयोग हो गया और उसमें सगीत की अपेक्षा नृत्य की प्रधानता रही तो वह अभिनय "बैले' बन गया। कालान्तर मे गीतो मे प्रभविष्णुता आ गई और नृत्य से उनको प्रधानता दी जाने लगी। इस प्रकार जहाँ 'बैले' मे गीत नृत्य पर आधारित थे वहाँ गीतो की प्रमुखता के कारण नृत्य गीतो पर आधारित बन गये। इस प्रकार सगीत-नाटक का जन्म हुआ। ये सगीत-नाटक दो रूपो मे विकसित हुए। एक रूप तो सगीत को ही प्रमुख मानकर पल्लवित होता रहा, किन्तु दूसरा रूप कथानक एव कथोपकथन मे भी नाटकीयता का समावेश करता रहा।

विभिन्न भाषाओ मे सगीत नाटक

सगीत-नाटक किसी-न-किसी रूप मे प्रत्येक भाषा मे विरचित हुए हैं और अद्यापि रचे जा रहे हैं। असम में कीर्त्तनिया, बगाल मे जावा, बिहार मे विदेसिया, सयुक्त प्रान्त मे रास, स्वाग, पजाब मे गिद्दा, गुजरात मे भवाई, महाराष्ट्र मे गोधड, आन्ध्र मे यक्षगान की प्रसिद्ध लोक-नाट्य परम्परा पाई जाती है। यहाँ सगीत-नाटको का सक्षेप में परिचय दिया जायगा। सर्व प्रथम दक्षिण के नाटको पर प्रकाश डालना समीचीन होगा।

यक्षगान

दक्षिण मे यक्षगान नामक नाटक आज भी प्रचलित है। इन नाटको का इतिहास आठवी शताब्दियो के शिलालेखो मे उपलब्ध है। विजयनगर राज्य में ब्राह्मणमेला नामक कलाकारो का समुदाय अभिनय के लिए प्रसिद्ध था। उक्त राज्य के अध पतन के दिनो मे ये कलाकार तजौर राज्य के आश्रय मे रहने लगे। ये लोग राम और कृष्ण की लीलाओं को गान द्वारा प्रस्तुत करते। इस शैली मे अभिनय के समय पात्र यक्ष गन्धर्वों का रूप धारण करते थे। इस कारण ये सगीत-रूपक यक्ष-गान नाम से प्रसिद्ध हुए। ऐसे नाटको के सर्वश्रेष्ठ रचयिता विप्रनारायण और राजगोपाल स्वामी हैं। इनके यक्ष-गानो का आज भी प्रचार है। मन्दिर के सम्मुख विशाल मैदान मे दो मशालो के प्रकाश के मध्य मृदग और द्रोन की ध्वनि के साथ-साथ रक्तिराग मे देव-चरित का गान सहस्रो ग्रामीण जनता को आज भी मुग्ध बनाता रहता है।

दक्षिण मे कथाकली, भरत नाट्यम, पठकम्, कट्यूकोट्टिकल मोहिनियत्तम, कोरत्तियत्तम, तुल्लल, एलामुत्ति एव ६ प्रकार के भगवतीपत्तू (तियूयातु, पन, पत्तु, कनियरकलि, मुतिएत्तु) प्रसिद्ध सगीत-नाटक है।

यात्रा[1]

यात्रा-नाटको का उद्गम कब और कैसे हुआ इस विषय मे विद्वानो ने समय-समय पर विचार किया है। प्रागैतिहासिक काल की नाट्य-परम्परा को यदि पृथक् रखकर देखें तो सर्वप्रथम बौद्ध ग्रन्थ 'ललित-विस्तर' मे यात्रा-नाटको का उल्लेख मिलता है। तदुपरान्त यात्रा का सबसे अधिक सम्बन्ध जगन्नाथजी की रथ-यात्रा, स्नान-यात्रा, आदि मे जोडा जाता है। श्रीमद्भागवत के उपरान्त कृष्ण की राम-लीलाओ से यात्रा-नाटक अत्यधिक प्रभावित हुए और वैष्णव धर्म के अभ्युदय के दिनो मे ये नाटक विकास की चरम कोटि पर

[1] प्राचीन काल में धार्मिक मेलो को यात्रा कहते थे।

पहुँच गए।

यदि प्रागैतिहासिक काल को देखें तो भरतमुनि के नाट्यशास्त्र मे यात्रा का सकेत मिलता है। Mr E P Hor cutter का तो मत है कि वैदिक काल मे भी यात्रा-नाटक प्रचलित थे।[1]

यात्रा-नाटक चाहे जितने प्राचीन हो किन्तु उनका विकास मध्ययुग मे चैतन्य और शकरदेव की शक्ति पाकर चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुआ। चैतन्य देव यात्रा नाटको मे स्वय अभिनय करते थे। उनके विद्वान् शिष्यो मे इतनी क्षमता थी कि गौराग कृष्णलीला के किसी एक प्रसग को निर्धारित करके पात्रो का निर्णय कर देते थे और वे पात्र मच पर ही नाटक की रचना और उसका अभिनय एक ही काल मे साथ-साथ करते जाते। इस अभिनय मे सगीत और कथोपकथन को महत्व दिया जाता था। कथानक की चरम-परिणति (Climax) की ओर ध्यान न देकर ईश्वर-प्रेमियो के हृदय मे भगवत्‌लीला का जीता-जागता रूप दिखाना उन भक्तो को अभीष्ट था।

यात्रा-नाटको मे कृष्णलीला की प्रधानता रही। कृष्ण-यात्रा मे पूर्व शक्ति-यात्रा का प्रचार था। यात्रा मडलियाँ देश मे घूम-घूमकर शक्ति और कृष्ण की विविध लीलायें दिखातीं। प्रारम्भ मे गीत-गोविन्द श्रीमद्भागवत्, चडीदास आदि कवियो के पदो के आधार पर अपनी सवाद-योजना के द्वारा कृष्ण-यात्राएँ अभिनीत होती रही। कृष्ण जीवन की सुप्रसिद्ध कथाओ को अभिनय द्वारा प्रदर्शित करना इनका लक्ष्य था। कालान्तर मे यात्रा-मडलियाँ लौकिक प्रेम-गाथाओ को भी कथावस्तु बनाकर नाटक खेलने लगी।

चैतन्य ने यात्रा-नाटकों मे नवजीवन का सचार किया। इतिहास मे जिन व्यक्तियो का उल्लेख इस सम्बन्ध मे मिलता है उनमे दुलीगाँव के निवासी शिशुराम अधिकारी का नाम प्रसिद्ध है। यात्रा-नाटक सकीर्तन और कवि के गीतो मे लुप्त प्राय हो चले थे किन्तु शिशुराम अधिकारी ने अपनी अभिनय-कला की क्षमता के बल पर इसके शिल्प को परिष्कृत कर दिया।

यात्रा-नाटक आज भी प्रचलित है। इनमे काव्य-सगीत के साथ-साथ कुछ गद्य रचनाएँ भी स्थान पाने लगी हैं। ये नाटक किसी देवता की यात्रा (मेला या नगर-भ्रमण) के अवसर पर खेले जाते थे। जब प्रतिमा का जलूस

1. Even the Vedic age knew Yatras, a memorable heirloom of Aryan antiquity. The gods of the Rig-Veda were hymned in choral procession Some of the Sam-Veda hymns re-echo the rude mirth of the Primitive Yatra dances

निकलता तो भक्त जनता मार्ग मे उत्साह के साथ देव-गाथा का गान गाती, नृत्य दिखाती एव अभिनय के रूप मे देव चरित प्रदर्शित करती। दर्शक इन्ही के द्वारा पौराणिक कथाओ का ज्ञान प्राप्त करते।

रास लीला

यात्रा-नाटको के समकक्ष महत्व रखने वाले जन-नाटको मे रासलीला शैली है। रासलीला मे राम नृत्य की प्रधानता रहती है। रासलीला का सीधा सम्बन्ध श्रीमद्भागवत् से है। ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत मे जब ने गोपियो के साथ कृष्ण की रासलीला का वर्णन किया गया और भगवान् ने उद्धव से कहा—

श्रद्धालुर्मे कथा श्रृण्वन् सुभद्रा लोक पावनी।
गायन्ननुस्मरन् कर्म जन्म चाभिनयन् मुहु ॥

(श्री मद्भागवत् एकादश स्कन्ध, एकादश अध्याय श्लोक २३)

भगवान् की लीला का अभिनय भक्ति के लिए आवश्यक कार्य माना गया। इस कार्य से अभिनेता और दर्शक दोनो को पुण्य की प्राप्ति और मनोविनोद का अवसर प्राप्त हुआ। रासलीला व्रजभूमि की लोक-नृत्य पर आधारित एक नाट्य शैली थी जो समस्त उत्तर भारत मे व्याप्त हो गयी। आज भी परम्परा के अनुसार प्राय नित्य यमुना के पुलिन पर किसी वृक्ष के समीप या किसी मन्दिर के प्रागण मे या ऊँचे टीले पर एक चौकी रख दी जाती है और उसके नीचे चार-पांच सगीतज्ञ विविध वाद्य यन्त्रो के साथ बैठ जाते है, गीत गोविन्द, श्रीमद्भागवत्, ब्रह्मवैवर्त्त पुराण मे उद्धृत श्लोक अथवा सूरदास, नन्ददास, आदि भक्तो के कतिपय पदो का नादी (मगलाचरण) के रूप मे गायन होता है। तदुपरान्त राधाकृष्ण आसन पर विराजमान होते है और लीला प्रारम्भ होती है।

रासलीला-नाटको मे रास-नृत्य अनिवार्य है। रास-नृत्य का किसी समय इतना आकर्षण था कि नौटकी के प्रबन्धक भी अपने सामाजिक नाटको के प्रारम्भ होने से पूर्व रास-नृत्य अवश्य प्रदर्शित कराते थे। आज भी किसी-न-किसी रूप मे यह लीला पूर्ववत् चल रही है।

रासलीला के नाटक आद्योपान्त सगीत नाटक है। कृष्ण-जीवन की विविध घटनाएँ दिखाने का इनमे प्रयास किया जाता है। इसके आरम्भ का पता अभी नही है। रास-नाटको की कथा वैष्णव और जैन दो धर्म-ग्रन्थो से ग्रहण की जाती है। जैन-मन्दिरो मे रास-नाटको के अति प्राचीन उद्धरण

मिलते हैं। जैन-धर्म मे दसवी शताब्दी मे रास-नाटको का उल्लेख मिलता है। इन धार्मिक नाटको का कथानक धर्म-ग्रन्थो से अल्प परिवर्तन के साथ ग्रहण होता है। कथा-सूत्र को जोडने के निमित्त सगीतज्ञ सूत्रधार और उनके मित्र आद्योपान्त यन्त्र के समीप विद्यमान रहते हैं। वे गीतो द्वारा कथा-सूत्रो को जोडते रहते हैं। पात्रो की वेश-भूषा मे परिवर्तन करने के लिए समय-समय पर पात्रो के सम्मुख एक आवरण-सा डाल दिया जाता है जिससे अभिनेताओ को दर्शक देख न सकें। सम्पूर्ण नाटक नृत्य और सगीत पर अवलम्बित रहता है। कभी-कभी कृष्ण की दो-तीन लीलाएँ एक ही रात्रि मे अभिनीत होती हैं। इस प्रकार आठ बजे रात्रि से प्रारम्भ होकर लीलाओ का क्रम प्रात काल तक चलता रहता है। इन लीला नाटको मे कथा की गति सगीत की ध्वनि के सहारे मन्द-मन्द रीति से बढती है। कथोपकथन का भी सुन्दर रूप कभी-कभी दिखाई पडता है। वीणा, मुरलिका, पखावज और मृदग आदि वाद्यो का भी मधुर, कभी गहन, घोष आद्योपान्त सुनने को मिलता है। आजकल हारमो-नियम-तबले का स्वर सुनाई पडता है।

इन नृत्य और गेय नाटको का शास्त्रीय विवेचन करने पर इन्हें नाट्य-रासक अथवा प्रेक्षणक की कोटि मे रखा जाता है।

स्वाँग-भवाई और गिद्दा

ये तीन लोक-नाट्य जन नाटको की शृगारी पद्धति मे प्रसिद्ध है। तीनों का एक जैसा तन्त्र एव एक जैसी शैली है। तीनो मे लौकिक प्रेम की प्रधानता होती है, और तीनों का अभिनय व्यवसायी नाट्य-मण्डलियाँ गाँव-गाँव दिखाती हुयी भ्रमण करती रहती है। स्वाँग का दूसरा नाम सगीत नाटक है। इन नाटको में सुल्ताना डाकू से लेकर भर्तृहरि और अलाउद्दीन बादशाह से भक्त पूरनमल जैसे महात्मा नायक बनाये जाते हैं। ग्रामीण जनता विशाल नक्कारे का अत्यन्त गम्भीर घोष सुनकर गृहकार्य त्याग कोसो तक उत्सुकता पूर्वक जाती दिखाई पडती है। रात्रि में नौ दस बजे इन नाटको का अभिनय प्रारम्भ होता है और कभी-कभी सूर्योदय के उपरान्त समाप्त होता है। अभिनेताओ की सख्या ८-१० तक होती है। वे ही पच्चीसों पात्रो का अभिनय नृत्य के द्वारा प्रदर्शित करते हैं। उसके घूंघट का कितना भाग कब और कैसे अनावृत्त होता है और भौहो और नेत्रों की भाव भगिमा कैसे परिवर्तित होती है, इसी नृत्य-कौशल पर नाटक की सफलता अवलम्बित रहती है। वह अपने पैरो की गति, हाथों की मुद्रा, भौहो के कटाक्ष से विविध प्रकार के भावो एव रसो

की अनुभूति करा देता है। नान्दी, सूत्रधार, विदूषक, नायक, नायिका आदि प्रमुख पात्र इसमे रगमच पर आद्योपान्त विद्यमान रहते हैं। मनोविनोद के लिए धूम्रपान की व्यवस्था रहती है। श्रान्त-क्लान्त पात्र रगमच के कोने मे लेटकर थोडा विश्राम भी कर लेता है।

एक दो अभिनेता इतने कुशल होते हैं कि वे द्वारपाल से राजा तक भिक्षुक से राजमहिषी तक सभी का अभिनय सफलतापूर्वक कर लेते हैं। सगीतज्ञो को वेश, सोरठ, मारग, सामरी, सोहनी, पुरवि, प्रभात, रामकलि, बिलावल, कालीगदा, आसावरी, मारू आदि रागो का ज्ञान होता है। प्रमुख पात्रो की स्मरण शक्ति ऐसी होती है कि सम्पूर्ण गाने उन्हे कठस्थ होते हैं। सगीतज्ञो का सहारा पाकर वे स्वाभाविक रीति से अभिनय के साथ अपना पूरा पाठ प्रदर्शित कर देते हैं। लोक-नाटको मे कथोपकथन भी कविता के माध्यम से होता है। वे लोग भजन, गजल, गरवा, रास, दुहा, दोहरा, साखी, सोरठा, छप्पय, रेख्ता आदि छन्दो का प्रयोग करते है। सगीत मे प्राय पचम और धैवत की प्रमुखता रहती है। प्रत्येक पात्र सगीतज्ञ होता है और वह पचम स्वर मे ही गायन करता है, ताकि उपस्थित जनता उसकी वाणी सुन सके।

वेशभूषा

स्वाग, भवाई, गिद्दा आदि लोक-नाटको मे घाघरा, धोती, अँगरखा, छडी आदि का उपयोग होता है। धोती के पहनने, छडी के धारण करने के ढंग से पात्र राजा या फकीर, पडित या कृषक, मन्त्री या सिपाही बन जाता है। इन नाटको मे सबसे विलक्षण पहनावा ओढनी है। ओढनी के सिर पर धारण करने की शैली और मुखमुद्रा के परिवर्तनो के द्वारा पात्रो की मनोवृत्ति आशिक रूप मे अभिव्यक्त हो जाती है। लोक-नाट्य की सबसे अधिक कौशलपूर्ण कला इसी मे झलकती है। भावाभिव्यक्ति के उपयुक्त रससिक्त पदावली की अपेक्षा, झीनी ओढनी के अन्तराल मे कौशलपूर्ण कटाक्ष की कला 'अधिक' सहायक होती है।

शास्त्रीय विवेचन

लोक-नाट्य का तन्त्र शास्त्रीय तन्त्र से पृथक् होता है। इनमे पच-सन्धियो, कार्य-अवस्थाओ, अर्थ-प्रकृतियो, सन्ध्यन्तरो आदि को ढूँढने के लिए सिर खपाना व्यर्थ है। लोक-कवि कथावस्तु की रचना मे एक के उपरान्त दूसरी घटना को अव्यवस्थित ढग से जोडते जाते हैं। रगमच पर पट-परिवर्तन

और दृश्य-परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती। वहाँ सकलन-त्रय की अपेक्षा नहीं। त्रासदी लिखकर नाट्य-शास्त्र के आदेशो का विरोध करना सस्कृतज्ञ नाट्यकार शोभाजनक नही मानते थे। लीक-लीक पर चलने के कारण गम्भीर त्रासदी नाटको का हमे सस्कृत साहित्य मे अभाव दिखाई पडता है। किसी नदी या जलाशय के तट पर या उपवन के रम्य मार्ग मे सुन्दर वृक्ष के पास एक ऊँचे टीले पर चौकी का बना रगमच राजमहल से लेकर दीन कुटीर तक, राज सभा से लेकर युद्धभूमि तक सभी प्रकार के दृश्यो का निर्माण सगीत के बल पर करना रहता है। कुकुम, खडिया, गेरू, काजल आदि सामग्री इनके लिए प्रसाधन की वस्तुएँ हैं। प्रकाश के लिए मशालो की व्यवस्था होती है। कपडो के मशाल, अरडी के तेल के छोटे-बडे कुप्पे, नेपथ्य-निर्माण की एक-दो चादरें इनके उपकरण हैं। कभी-कभी चेहरे (Masks) लगाकर पशु-पक्षी, भालू-बन्दर, देव-दानव का वेश धारण किया जाता है। पात्र के अस्त्र-शस्त्र एव वस्त्राभूषण आदि की कल्पना उसके आगमन के समय गाये जाने वाले गीतो से की जाती है। यह आवश्यक नही कि गीत के अनुसार उसका परिधान हो ही। यह तो निस्सन्देह कहा जाता है कि हिन्दी साहित्य मे त्रासदी की जितनी अधिक रचना लोक-नाट्यो मे हुई इतनी कदाचित् अन्यत्र नही। कारण यह है कि नाट्य-शास्त्रो के विधि-विधानो से अनभिज्ञ जीवन की पाठशाला मे शिक्षित ग्रामीण कवि, यथार्थ स्थितियो के प्रदर्शन मे तल्लीन रहा। उसने समाज मे प्राय साधु को दुराचारी, धनी को कृपण और डाकू को उदार देखा। उसके कठ से गान फूट पडा। उसने वास्तविक महात्मा को दु खी और दुरात्मा को सुखी देखा। उसने प्रेमियो को दीर्घकाल तक तप-साधना करने पर भी प्रणय मे असफल देखा। असफलता के कारण वियोग मे तडप-तडपकर, अन्तिम क्षणों मे प्रेमी का नाम जपते हुए सुना। उसे ट्रेजडी की वह सामग्री मिली जिसका उसने उपयोग किया और हीर-राँझा, लैला-मजनू जैसे करुण नाटको की रचना हुई। ये नाटक शताब्दियो से ग्रामीण जनता का मनोविनोद करते चले आ रहे हैं।

समाज की कुरीतियो पर व्यग्य करने और शक्तिशाली अधिकारियो के विरुद्ध पीडितो का ध्यान आकर्षित करने का सर्वप्रथम श्रेय इन्ही प्रतिभाशाली ग्रामीण नाट्यकारो को मिलना चाहिए। नागरिक नाट्यकार ग्राम्य जीवन मे घुलमिल नहीं पाते। अत ग्रामीणों के दु ख-सुख से सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण वे ग्रामीण समाज के हृदय को छू नही पाते।

ग्रामीण नाट्यकारो ने प्रेम, आर्थिक सकट, अधिकारियो की उच्छृखलता, वीरों के शौर्य, साहसियो के साहस, धार्मिको की तपस्या, ढोगियो के आडम्बर,

पतिव्रता की विपत्ति, समाज की कुरीतियाँ, नवीन सभ्यता की त्रुटियाँ आदि को नाटक की कथा-वस्तु का आधार बनाया। रामायण और महाभारत, श्रीमद्-भागवत् और विविध पुराण, इतिहास और लोक-वार्ता के आधार पर चिर-विश्रुत कथाओ मे समयानुकूल कल्पना का पुट मिलाकर लोक-नाटको का इतिवृत्त निर्मित होता चला आ रहा है। चिर-विश्रुत कथाओ मे तत्कालीन राजा-रईसो की नामावलियो एव घटनावलियो को सयुक्त कर देना उनके बाएँ हाथ का खेल है। सकलन-त्रय के बन्धन मे बँधना, मुक्त प्रकृति के निर्बन्ध वातावरण मे पला कवि क्या जाने! वह परम्परा से जो सुनता और शैशव से जो देखता रहा है उसमे अपनी कल्पना का रग मिलाता जाता है। वह राम-रावण युद्ध से लेकर गाधी-गवर्नमेंट की लडाई तक को कथानक बना सकता है, इतिहास-प्रसिद्ध अमरसिंह से लेकर बलिया के प्रसिद्ध विद्रोही नेता चीतू पाडे तक की जीवनी इतिवृत्त के रूप मे दिखा देता है, सुल्ताना डाकू से रूपा डाकू या मानसिह डाकू तक के डकैतो के जीवन-चरित्र को नाटक का इतिवृत्त बना डालता है, इन घटनाओ मे शास्त्रीय क्रम की अपेक्षा सगीत के महत्त्व की ओर अधिक ध्यान देता है।

ट्रेजिक तत्त्व

ट्रेजडी मे सघर्ष का सबसे अधिक महत्व होता है। वह सघर्ष कभी व्यक्ति के विविध मनोवेगो, भिन्न-भिन्न विचारो, प्रतिकूल इच्छा-आकाक्षाओ, अथवा विरोधी उद्देश्यो मे निहित रहता है। कभी व्यक्ति और व्यक्ति मे अथवा व्यक्ति और परिस्थिति मे यह सघर्ष दृष्टिगत होता है। कभी-कभी इनमे से एक या कई का सघर्ष दिखाई देता है और कभी इनमे सभी प्रकार के सघर्षो का योग रहता है। मुख्य यह है कि घोर सघर्ष के मध्य जब नायक को मृत्यु या भयानक दुख मिलेगा तभी ट्रेजडी सिद्ध होगी।

लोक-नाटको के अन्त मे मृत्यु एव भयानक कष्ट तो प्राय देखने को मिलता ही है साथ-ही-साथ कभी-कभी उस दुखमय अन्त तक पहुँचने की प्रक्रिया मे कार्य-कारण का सम्बन्ध भी बुद्धिसगत होता है। ऐसे नाटक वास्तव मे आकर्षक और गम्भीर नाटक कहलाने के योग्य होते हैं।

लोक-नाटको मे तर्क से अधिक महत्व अध्यात्मशक्ति को दिया जाता है। प्राय ऐसे नाटक मिलते हैं जिनमे मनुष्य और भाग्य का सघर्ष दिखाया जाता है। परोक्ष एव अलौकिक शक्तियो का कभी-कभी ऐसा अमिट प्रभाव दिखाई पडता है जिसे मानवी शक्तियाँ विनत वदन होकर स्वीकार करने को बाध्य होती

है। ग्राम्य नाटकों मे जब कभी व्यक्ति और समष्टि का, व्यक्ति और परिवार का, मनोबल और परोक्ष सत्ता का, पुरुष और स्त्री का, नागरिक और शासक का, नागरिक एव नागरिक का सघर्ष परिस्फुटित हो जाता है तब नाटक रम्य रूप धारण कर लेता है। कर्तव्य और अधिकार की भावना मे सन्तुलन बिगड जाने के कारण प्राय ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसे नाटको मे मानव-शक्ति की विवशता और भाग्य की प्रबलता दिखाकर परोक्ष सत्ता के प्रति विश्वास उत्पन्न करना मुख्य उद्देश्य होता है। यही कारण है कि भक्त प्रह्लाद, मोरध्वज, हरिश्चन्द्र, सती सावित्री, श्रवणकुमार, पूरनमल आदि नाटक शताब्दियो मे जनता में परोक्ष शक्ति के प्रति विश्वास दृढ करते चले आ रहे है।

लोक-नाटको मे श्रद्धा और विश्वास की शक्ति को असीम मानकर चलना पडता है। इनमे यौगिक शक्ति के बल पर मृतक का जीवित होना, आकाश मे उडना, विशाल समुद्र का सूख जाना, दीवार का चल पडना, पर्वत का उडना, नितान्त स्वाभाविक स्वीकार किया जाता है। इन नाटको मे क्रियाशीलता के स्थान पर नृत्य और सगीत को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। कारण यह है कि लोक-नाटको मे कवि का उद्देश्य दर्शक की भावनाओ को उद्बुद्ध कर उन्हे रसमय करना होता है। जीवन की गुत्थियों को सुलझाने के लिए बुद्धि को प्रखर बनाना नहीं, मुख्य ध्येय मनोविनोद होता है। गम्भीर चिन्तन नहीं, कुरीतियो पर व्यग्य होता है, समस्याओ का समाधान नही।

नेता

लोक-नाटको के नेता धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरप्रशान्त एव धीरललित की सीमा नही पाते। ग्राम्य-जीवन मे धन और मान, जाति और वर्ण, रूप और विद्या मे महान् अन्तर होने पर भी यह भेद-भाव हृदय पर उतना आघात नही पहुँचाता जितना नागरिक-जीवन मे यह क्लेशकर प्रतीत होता है। गाँवो मे चमार भी ब्राह्मण का चाचा और दादा है। बडे-से-बडा रईस और प्रकाड विद्वान् भी निर्धन अनपढ किसान का बेटा और पोता है। वहाँ बडे और छोटे का मापदण्ड परोपकार की भावना है जो दीनो का जितना अधिक हितचिन्तक है वह उतना ही बडा है। निर्धन और अशिक्षित भी धर्म और सदाचार के बल पर सम्मानित बनता है। माली का बेटा, अन्धी दुलहिन, स्याहपोश, दयाराम गूजर, बेकसूर बेटी, श्रीमती मजरी, नौटकी, विचित्र धोखेबाज, मेला घूमनी, बेटी बेचवा, निर्दय जमीदार आदि व्यक्ति भी सफल नायक बनने के अधिकारी होते हैं।

नायकों को धार्मिक, पौराणिक, सामाजिक, ऐतिहासिक इत्यादि विविध कोटियों में रखा जा सकता है। विश्व का कोई व्यक्ति नायक बनने का अधिकारी हो सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि उसमें लोक-रंजन की क्षमता हो, वह संगीतज्ञ और चमत्कारी हो।

उत्तर भारत में नायक का कदाचित् सबसे अधिक व्यापक क्षेत्र स्वाँग-शैली में दृष्टिगोचर होता है। कथावस्तु, नेता और रस दृष्टि से इस शैली पर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है।

स्वाँग—स्वाँग नाटक के मुख्यतः दो रूप मिलते हैं—पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी रूप हाथरस, एटा आदि जिलों में प्रचलित है और पश्चिमी रूप हरियाणा और रोहतक में। पूर्वी रूप के आधुनिक कवि नथाराम और पश्चिमी के लक्ष्मी एवं हरदेवा माने जाते हैं। हरियाणा व्रजभूमि और मेरठ कमिश्नरी के विस्तृत भू-भाग में लोक-नाटकों की यह परम्परा शताब्दियों से निरन्तर चली आ रही है।

मध्यकाल में सादुल्ला[1] नामक एक प्रसिद्ध लोक-कवि हरियाणा प्रान्त में उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में अब्दुल रहमान नामक कवि ने अपभ्रंश में सन्देश-रासक की रचना की उसी प्रकार सादुल्ला नामक लोक-कवि ने अनेक लोक-गीतों और लोक-नाटकों की रचना की। उनके लोक-गीत और लोक-नाटकों की परम्परा उत्तरोत्तर विकसित होती गयी। आज दिन भी इन लोक-नाटकों का इतना प्रचार है कि साँग-मण्डलियाँ, दिल्ली-जैसी नगरी में एक-एक नाटक खेलकर पाँच-पाँच सहस्र रुपये तक अर्जित कर लेती हैं और सहस्राधिक व्यक्ति खुले मैदान में रात-रातभर इन नाटकों का अभिनय देखते रहते हैं।

हम पूर्व कह आए हैं कि साँग-नाटकों में पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं लौकिक सभी विषयों का समावेश होता है। लौकिक से तात्पर्य है उनकी कथाओं से जिनको मध्यकाल में किसी प्रतिभाशाली कवि ने अपनी कल्पना से निर्मित किया। इन लोक-कथाओं के आधार पर निर्मित नाटक सबसे अधिक आकर्षक होते हैं। राजा भर्तृहरि, गोपीचन्द, भक्त पूरनमल, हीर-राँझा आदि नाटकों की इतनी ख्याति है कि दूर-दूर से ग्रामीण जनता इन्हें देखने को टूट पड़ती है। इनके कथानकों में इतना आकर्षण है, उनके गीतों में

१ इस कवि की ११वीं पीढ़ी में इन्द्रमन चौबामा नामक एक वृद्ध ने तीन शताब्दियों की सञ्चित निधि स्वरूप सौ के लगभग हस्तलिखित ग्रन्थों को सन् १८५७ के दंगे में एक कुएँ में फेंक दिया।

इतनी प्रभविष्णुता और सरसता है, इनके कथोपकथन में इतना व्यंग्य है कि जनता मुग्ध हो जाती है। इन नाटकों में नाटकत्व के साथ कविता है, संगीत के साथ सूक्ष्म भावों की कोमलता है, रससिद्धि के साथ चरित्र का विकास है। इनमें अन्तर्द्वन्द्व का विश्लेषण है और बाह्य संघर्ष का प्रदर्शन। सभी रसों से आप्लुत अनेक भावों और भावनाओं से परिपूर्ण लोक-नाटकों के मनोहारी दृश्यों की छटा स्पृहणीय रही है। उदाहरण के लिए पूरनमल नामक स्वाँग का एक दृश्य देखिए। स्यालकोट का बूढ़ा राजा शंखपति एक सरदार फूलचक्र की बेटी लूणादे पर मोहित होकर ब्याह कर लाता है। राजमहल में सपत्नी को विद्यमान देखकर लूणादे के हृदय पर जो आघात पहुँचता है उसका वर्णन करते हुए वह कहती है—

थाने कहूँ मैं बात प्रीतम आपके ताहीं।
मैं तो सौत के साथ हरगिज भी रहूँ नांहीं ।।

किन्तु राजा के आग्रह पर वह महल में रहने लगी। एक दिन एकान्त में वह अपने हृदयगत भावों को इस प्रकार प्रकट करती है—

मैं तो जोबन में भरपूर पिया की गरदन हाले ओ ।।
मैं तो बरस बीस में आई, मस्ती अंग-अंग में छाई,
म्हारा पिवजी साठा माहीं, कुबड़ा होकर चाले ओ ।। मैं०
म्हारी अँखियाँ हुई नशीली, अमियाँ पक पक बनी रसीली।
पिव की चमड़ी पड़ गई ढीली, कुबड़ा होकर चाले ओ ।। मैं०
मैं तो भर जोबन मतवाली, म्हारे अंग अंग में लाली।
लेकिन पिवजी हो गया खाली, साल कलेजे साले ओ ।। मैं०
बावल बूढ़ा ने परणाई, जिसमें बाकी कुछ भी नाईं।
मैं तो हाय करूँ अब काईं, फोड़ा जोबन घाले ओ—मैं०

इस नाटक में नवयुवती रानी, शंखवती के पुत्र पूरनमल पर आसक्त होती है। उस समय पूरनमल कहता है—

मत कुपथ में पड़ै माय मत उल्टी बात चलावै।
बेटा नै भरतार बणाया, आ धरती हिल जावै ।।

रानी लूणादे पुत्र पर बलात्कार का आरोप लगाती है और वृद्ध कामुक राजा उसे सूली पर चढ़ाने की आज्ञा देता है। पूरनमल को सूली दे दी जाती है। मृत्यु के उपरान्त उसकी दोनों आँखें निकालकर रानी के पास भेजी जाती है और शव को एक कूप में डाल दिया जाता है। संयोग से गुरु गोरखनाथ इस कूप पर पहुँच जाते हैं और उस शव को पुनरुज्जीवित करते हैं। पूरनमल

गुरु गोरखनाथ का शिष्य बन जाता है। वह भिक्षा मागते हुए स्यालकोट मे अपनी जन्म-भूमि देखकर प्रसन्न होता है। रानी क्षमा-याचना करती है। पूरनमल की माता अम्बादे पुत्र को पाकर धन्य हो जाती है।

लखमीचन्द प्रसिद्ध लोक-नाट्यकारो मे से एक है। सागियो मे इस व्यक्ति को जनता ने सबसे अधिक अपनाया है। इनकी कविताएँ भावमय और सरस हैं। पूरन भगत के स्वाग की इस रागनी को देखिए—

पूरनमल की मौसी उस पर मोहित हो जाती है तो पूरनमल उसे किस प्रकार समझाता है—

मा बेटे पै जुलम करै सै देख राम के घर नै
पतिवरता इकसार समझती छोटी बडी उमर नै
सावित्री सत्यवान पती नै आप ढूँढकर ल्याई
बरस दिन भीतर मर लेगा नारद नै कथा सुनाई
बरत एकादशी का धारण करकै व्याह करवा सुख पाई
गये थे बना मे लकडी तोडन कजा पती सिर छाई।
धर्मराज तै धर्म के कारण ल्याई थी जिवा के वर नै ॥
पतिवरता इकसार समझती छोटी बडी उमर नै ॥
इन्द्राणी, रुक्मणी, बिमाणी, अनुसुइया की के गिनती
पतिवरता थी कौशल्या जो रामचन्द्र से सुत जणती
विषय ने त्याग भजन में लागे जब पतिव्रता बनती
मदनावत औ दमयन्ती सदा भजन हैं हरि के सुणती
एक मीराबाई पार उतर गई पति समझ पायर नै
पतिवरता इकसार समझती छोटी बडी उमर नै ॥
कहै लखमीचन्द हे मा मेरी के भोगे बिना सरै सै
तेरे बारगी बेहूदी का के बेडा पार तरै सै
आगे मिल जाएगा वर जोडी का के मेरे बिना मरै सै
मा हो के नै डूब गई बेटे पै नीत धरै सै
फूंडी मिलेगी तनै कोडा की खा जागे चूंटि जिगर नै
पतिवरता इकसार समझती छोटी बडी उमर नै ॥

लखमीचन्द की यह रागनी जो कि पद्मावत सगीत मे से ली गई है श्लेष का अत्युत्तम उदाहरण है। यहाँ पर इस गीत के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो अर्थ दिए गए है—

चन्दरदत्त की आज्ञा लेकर फिर भगवान मनाया
चाल पडा रणधीर रात नै कर कावू मे काया।
घोर अन्धेरा पृथ्वी तै अम्वर मिला दिखाई दे था
वढा अगाडी फूल जोत कीसा दिखाई दे था
सत का सागर जान का झंझट जला दिखाई दे था
सात घात की चमक चान्दनी किला दिखाई दे था
लोहे, चाँदी, सोने का कमरा खूव लगी धन माया ॥
चाल पडा रणधीर रात नै कर कावू मे काया।
ऋषि मुनि योगी सन्यासी जहाँ त्यागी आप खडे थे
भूत भविष्यत् वर्तमान जहाँ तीनों ताप खडे थे
मेहर तेहर और मोह माया ने खुलकर खेल रचाया ॥
चाल पडा रणधीर रात नै कर कावू मे काया
खडे चुपचाप कोई सा ना इधर उधर हिलै था
पाँच खडे दर चार-पाँच का दौरा ही दूर चलै था
पद्मावत के महलों ऊपर अद्भुत नूर ढलै था
नौ नाडी और दस दरवाजे ज्ञान का दीप जलै था
झाँकी माँ कै पद्मावत के पडै रूप की छाया ॥
चाल पडा रणधीर रात नै कर कावू मे काया।
इन सव का रग-ढग देखकर हद तै आगे वढ गया
शीशे का रगमहल देख कै फरक गात का कढ गया
लखमीचन्द गुरु की आज्ञा से जव कोई अक्षर पढ गया
दस डडे रहे लाग कमन्द के पकड कै ऊपर चढ गया
सूती हूर जगावण खातिर मुँह पर तै पल्ला ठाया ॥
चाल पडा रणधीर रात नै कर कावू मे काया।

लोक-नाटको मे स्त्रियो को पर्याप्त महत्ता दी जाती है। इतिहास पुराण से अनेक योग्य महिलाओ का चरित्र इतिवृत्त वनाया गया है। भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठो मे मीरा का नाम सदैव अमर है। उसका जीवन-आदर्श, त्याग और निष्ठा मे पूर्ण जीवन था। एक वारात को देखने पर मीरा का अपनी मा से अपने पति के वारे मे पूछना और माँ का एकमात्र गिरवर को ही उसका पति वतलाना मार्मिक घटना थी। यही मीरा के लिए एक कठोर साधना का मार्ग वन गयी और उसी दिन से मीरा ने गिरधर गोपाल को ही अपने पति-रूप मे ग्रहण किया। उन्मुक्त यौवन का समय आया, किन्तु मीरा

अपने मार्ग से विचलित न हुई। उदयपुर के राणा ने मीरा के विवाह का प्रस्ताव उसके पिता के समक्ष रखा यद्यपि विवाह स्वीकार हो गया, किन्तु मीरा तो सच्चे हृदय से एक बार अपने पति को वर चुकी थी। फिर गिरधर के स्थान पर मीरा महाराणा को पति स्वीकार करके भारतीय आदर्श को किस प्रकार गिरा सकती थी ? भारतीय नारी की यह उदात्त भावना निम्न पंक्तियों में कितने सुन्दर ढंग से प्रस्फुटित हुई है ? मीरा अपनी माँ से प्रत्युत्तर में कहती है—

मात-पिता ने धर्म दिया, दिया महाराणा तैं डर कै
पति का प्रेम भुलावण लागी क्यों धिगताणा करकै
अपनी माँ के संग थी मीरा पूजा बीच निगाह थी
एक बार पूजण गया मन्दिर मे बारात सजी संग जा थी
मैं बोली कौण कित जा सै समझ लावण आली मा थी
न्यू बोली बनड़ा बनड़ो ल्यावे जिसने पति की चाह थी
पति का प्रेम भुलावण लाग्यी क्यो धिगताणा करकै

नाम सुणा जब गिरधर जी का आनन्द हो गई काया
बीरबानी नै पति बिन अच्छी लागै ना धन माया
उसका प्रेम ठीक हो जासै जिसने ज्यादा प्रेम बढाया
खुद माता के कहने से मैंने गिरधर पती बणाया
करूँ प्रीति सच्चे दिल तै प्रेम बीच मे भर कै।
पति का प्रेम भुलावण

स्वाँग का तीसरा प्रसिद्ध नाटक है हीर-राँझा। हीर-राँझा का नाटक आनंदी के तत्व से पूर्ण है।

हीर-राँझा वारसशाह का प्रबन्ध काव्य है। इस काव्य का इतना प्रचार हुआ कि इसके आधार पर कई लोक-नाट्य विरचित हुए। स्वाँग और गिद्दा में सबसे अधिक इसका प्रचार हुआ। हीर-राँझा नाटक का नायक राँझा ही है क्योंकि वही फल भोक्ता है। नायिका हीर है। वारसशाह ने हीर का चरित्र ऐसे ढंग से प्रस्तुत किया है कि उस के सामने उसकी सहेलियाँ गौण लगती हैं।

राँझा अपनी भाभी से झगड़ पड़ता है बात बढ जाती है और भाभी व्यंग्य करती है, देखूँगी जब तू जाकर हीर ब्याह लाएगा। सहसा राँझा के मन में हीर-प्राप्ति के लिए संकल्प उठा। वह घर छोड़कर चल देता है। हाथ में बाँसुरी उठाना है। नदी के पार पहुँचकर वह विश्राम करने के विचार से एक कमरे में जाकर रुकता है। कमरा आरामप्रद था। बिस्तर पर पड़ते ही गहरी

नीद मे सो जाता है। इतने मे कोई हीर को सूचित करता है कि तेरे बिछौने पर कोई परदेशी सोया पडा है। शहर के बडे सरदार की पुत्री गर्व से तन जाती है। किसका साहस है कि हीर के पलंग पर आ पडे ? वह सहेलियो को लेकर चलती है। हाथ मे सजा देने के लिए कोडा होता है। राँझा के चेहरे की मासूम झलक और सुन्दरता हीर की आँखो को चकाचौंध कर देती है। प्रेम हिलोरें ले दोनो के दिल मे छा जाता है और फिर प्यार की पींग लोक-दृष्टि से चोरी-चोरी बढती हैं। हीर-राँझा एक-दूसरे के साथ रहने का वचन देते हैं।

यहाँ तक हीर-राँझा मे आपको प्यार के सुख का उत्कर्ष मिलेगा। आत्माओ के मिलन का सगीत सुनाई देगा। यहाँ मधुरता है, यहाँ दो जिन्दगियाँ मिलकर एक साथ एक नयी जिन्दगी का निर्माण करती है।

इसके पश्चात् ट्रेजडी शुरू होती है। घर की इज्जत पर डाका पडते देख हीर का चाचा रगमच पर प्रवेश करता है। हीर का पिता शीघ्र ही उसका (हीर का) विवाह कर देता है। हीर ससुराल चली जाती है। यहाँ से आपको प्यार की वेदना मिलेगी, ट्रेजडी तत्त्व का रूप यही मे निखरने लगता है।

कालान्तर मे राँझा का लौकिक प्रेम मिलन की उत्कठा से पराड्मुख होकर पारलौकिक प्रेम की ओर अग्रसर होता है। वह योगियो की मण्डलियो मे घूमता है, पर इससे भी उसे शान्ति नही मिलती। हीर ससुराल जाकर बीमार हो जाती है। राँझा योगी बन उससे मिलता है, भाग जाने का कार्यक्रम निश्चित हो जाता है। भागते हुए वे दोनो पकड लिए जाते हैं और यह लोक-नाट्य राँझा और हीर की मृत्यु पर समाप्त हो जाता है।

वारसशाह ने देहात के कैनवास पर इस महान् दुखान्त कृति को अकित किया है। इसी कैनवास पर उसने मानवीय अनुभूतियो के साथ-साथ उस समय के वातावरण, सस्कृति और रहन-सहन को चित्रित किया है। इसी-लिए वारसशाह का हीर-राँझा पिछले तीन सालो की ऐतिहासिक चेतना को लिए खडा है जिसकी ट्रेजडी बेजोड है और जिसका नाटकीय तत्व हृदय-ग्राही है।

रूप-बसन्त (सामाजिक नाटक)

दारानगर के राजा चन्द्रसेन की रानी रूपावती से रूपबसन्त नाम के दो पुत्र हुए। एक दिन रानी रूपावती ने अपने महलो मे देखा, कि एक चिडा

पहली चिडिया के मरने पर दूसरा विवाह कर लेता है। दूसरी चिडिया ने आकर उसके बच्चों को बहुत तग किया। ऐसा देखकर रानी ने राजा से कहा कि मेरे मरने के उपरान्त आप दूसरा विवाह न करें। राजा ने रानी को आश्वासन दिया कि वह कभी भी दूसरा विवाह न करेगा।

कुछ दिनो के उपरान्त रानी रूपावती की मृत्यु हो जाती है। राजा को वृद्ध मन्त्री तथा अन्य कुटुम्बीजनो के आग्रह पर अवधपुरी के राजा चित्रसेन की पुत्री चित्रावती से विवाह करना पडता है। चित्रावती युवती थी और उसका यौवन चरमावस्था पर था। वह राजकुमार वसन्त पर मुग्ध हो जाती है। उसकी वासना जागृत हो जाती है परन्तु वसन्त उसे माता ही मानता रहा। काम न बनता देखकर चित्रावती वसन्त पर आरोप लगाकर उसे मरवाना चाहती है। राजा बाँदियो के साक्ष्य पर वसन्त को फाँसी की आज्ञा देता है। यह ज्ञात होने पर रूप स्वय वसन्त के पास जाकर मृत्यु की इच्छा प्रकट करता है। मन्त्री की बुद्धिमानी से दोनो को ऐसी फाँसी लगाई गयी कि वे मृत्यु से बच गए।

शैली

लोक-नाटको की विविध शैलियाँ है। इनमे लीला-शैली, स्वाँग-शैली, यात्रा-शैली, कीर्तन-शैली, भाँड-शैली, विदेशिया-शैली, भवाई-शैली, गिद्दा-शैली प्रमुख हैं। प्रत्येक शैली मे नृत्य और सगीत का विधान पृथक्-पृथक् रूप से होता है। स्थानीय रुचियो और स्थानीय सगीत-पद्धतियो मे अन्तर होने के कारण शैली मे अन्तर आ जाता है, किन्तु जहाँ तक कथावस्तु, नेता और रस का प्रश्न है प्रत्येक शैली मे समानता पाई जाती है। पाँच-सात प्रमुख पात्र सम्पूर्ण नाटक का अभिनय नृत्य और सगीत द्वारा रात्रि के अधिकाश भागो तक दिखाते रहते हैं। सूत्रधार और प्रमुख पात्र आद्योपान्त रगमच पर विराजमान रहते हैं। सगीत और नृत्य मे शास्त्रीय, अशास्त्रीय सभी पद्धतियो को स्थान मिलता है। स्थानीय प्रतिभा के बल पर नृत्य के प्रकार और सगीत के स्वर-प्रवाह मे अन्तर पडता जाता है। मुख्य रूप मे निम्न शैलियाँ भारत के विभिन्न भागो मे दिखाई पडती हैं। सर्वप्रथम कीर्त्तनियाँ शैली मे गायक वृन्द खजरी या करताल लेकर अर्द्ध-वृत्ताकार रूप मे खडा होता है। दोनो छोर पर दो सगीतज्ञ खोले बजाते हैं और शेप करताल। ठीक मध्य मे पार्टी का नायक खडा होता है। नर्त्तक धोती, उत्तरीय और पगडी धारण करते हैं। किसी राग के आलाप के साथ-साथ खजरी की ध्वनि गूँज उठती है। नायक के नृत्य

प्रारम्भ करते ही सारी पार्टी नर्त्तन करने लगती है। नायक भक्ति-सम्बन्धी नाटक को कीर्त्तन के रूप मे गाता जाता है। गायन के उपरान्त नर्तक कवि भावो को नृत्य के द्वारा प्रदर्शित करता है और सभी पात्र उसी के साथ स्वर मिलाकर 'कोरस' गाते जाते हैं।

नृत्य-नाटक

मणिपुर का नृत्य-नाटक लहरोवा कहलाता है। लहरोवा का अर्थ है, देवताओ का नृत्य। नृत्य के आधार पर भरत के नाट्य-शास्त्र मे वर्णित इन्द्र के ध्वजारोहण उत्सव की कथावस्तु प्रदर्शित की जाती है। मणिपुर के भैरग गाव मे प्रति वर्ष चैत्र-वैशाख मास मे यह उत्सव ८-१० दिन तक चलता रहता है। इसका दूसरा कथानक है शिव और पार्वती के अवतार की कथा। इस कथा के नायक है, खम्बा और नायिका थैवी। खम्बा और थैवी शिव-पार्वती के अवतार माने जाते हैं।

इस नृत्य नाटक मे कथक नृत्य त्रिताल, एक ताल और झपताल के साथ चलता है। गुरु सूर्य वाबासिह ने प्राचीन परिपाटी मे परिवर्तन किया और रुद्रताल, ध्रुपद-ताल, चौताल, आधा चौताल और धमार का भी इसमे मिश्रण किया।

भवाई

लोक-नृत्यो मे भवाई का विशेष महत्त्व है। भवाई नाटको के अभिनेताओ की एक जाति ही बन गई है, जिन्हे भवाया अथवा तारगाला कहते हैं। ये लोग औदीच्य श्रीमाली और व्यास ब्राह्मण है। इनके इतिहास की प्राचीनता अनुसधान का विषय है। इतना तो स्पष्ट ही है कि पूना के पेशवाओ ने इस कला को प्रोत्साहन दिया था और इस शैली के नाट्यकारो को स्वर्ण उपवीत देकर सम्मानित और पुरस्कृत किया था। आज से सौ वर्ष पूर्व गुजरात के प्रसिद्ध लेखक रावसाहब महीपतराम रूपराम ने भवाई-सग्रह नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया और इस मृतप्राय नाट्य-पद्धति को नवजीवन प्रदान किया।

टोला

भवाई के अभिनेता-दल को टोला कहते हैं। टोला मे बीस से अधिक पात्र नही होते। वे लोग एक गाँव से दूसरे गाँव आठ महीने तक भ्रमण करते हुए अभिनय दिखाते फिरते है। जिस गाँव मे वे पहुँच जाते है वहाँ उत्सव-सा होने लगता है। ग्रामीण जनता उनके लिए भोजन, प्रकाश और नाट्य-शाला का प्रबन्ध करती है।

"शाहजादा—गुज्जर पै क्या मोही है, गुज्जर लोग गुग्राल ।
मैना—गुज्जर-गुज्जर बहुत भले मेरे, शाही लोग के काल ।
बादशाह ! शाही लोग के काल ।"

यहाँ गूजर का गुज्जर, ग्वाल का गुग्राल रूपान्तर केवल शब्द-सगीत का प्रभाव लाने के लिए किया गया है ।

सगीत 'स्याहपोश'[1] मे मगलाचरण के अवसर पर कवि कहता है :—

करन कष्ट सब नष्ट दुष्ट गजन-मजन त्रैतापन ।
शमन अमगल मूल दमन क्रोधादि मान मद पावन ।।
अष्ट भुजी आठो भुज विक्रम धारि स्वर्ग शर चापन ।
असुर मारि भय टारि देव इन्द्रादि करे अस्थापन ।।
नमामिरक्त गजनी—सकल मुनिन रजनी ।
उदय विज्ञान करो तुम ।
गण दोषण शुभ अशुभ काव्य के लिखि अज्ञान हरो तुम ।।

सगीत अमरसिंह राठौर मे एक स्थान पर भल्लूसिंह शत्रुओ को युद्ध के लिए ललकारता हुआ कहता है —

आज करूँ रणवश उजागर हाथ उठाय के पैज सुनाऊँ ।
ठठ्ठ के ठठ्ठ समट्टन कट्टि झपट्टि के लुत्थ पै लुत्थ बिछाऊँ ।।
देकर हकनिशक बढ़ूँ न डरूँ रण मारहि मार मचाऊँ ।
ताज समेत हनूँ शिर शाह को तौ रजपूत को पूत कहाऊँ ।।

शब्द-सगीत की जो शैली अपभ्रश मे प्राय उपलब्ध होती है लोक-नाट्य साहित्य मे उसका यत्र-तत्र दर्शन होता है । "ठठ्ठ के ठठ्ठ समट्टन कट्टि झपट्टि के लुत्थ पै लुत्थ बिछाऊँ" मे शब्द-सगीत युद्ध-सगीत के साथ पूर्ण सगति रखने के कारण मनोहारी बन गया है ।

रस

लोक-नाटको की कथावस्तु के विविध स्रोत हैं । रामायण-महाभारत के प्रसगो मे लोक-कथाओ तक की घटनाएँ इनमे पाई जाती हैं । पौराणिक नाटको मे श्रवणकुमार, नल-दमयन्ती, कीचक-वध, नारद-मोह, शकर-पार्वती विवाह, अतिप्रसिद्ध नाटक हैं । शृङ्गार रस के नाटको मे नौटकी शहजादी, लैला-मजनू, हीर-रांझा, प्रेमकुमारी गुजपुरी आदि प्रमुख है । रामायण और महाभारत की प्राय सभी प्रमुख नाटकीय घटनाएँ नाटक का इतिवृत्त बन गई हैं । इस प्रकार

1 सगीत स्याहपोश—प० नथाराम शर्मा (मगलाचरण) ।

वीर-शृङ्गार और करुण-रस की प्रधानता के साथ प्राय अन्य सभी रसो का समावेश हो जाता है। लोक-नाटको मे हास्य-रस अपने ढग का न्यारा होता है। इनमे शिष्ट हास्य की अपेक्षा ग्रामीण जनता की रुचि के अनुरूप अवहसित एव अतिहसित की अधिक मात्रा रहती है। इसके लिए विदूषक की विलक्षण वेशभूषा (फटे चीथडो पर अग्रेजी टोप) के अतिरिक्त उसका अगसचालन, आँख मटकाना, जीभ निकालना, भौं सिकोडना, कमर हिलाना, पैर फेंकना, आँखें फाडना, गधे जैसा रेंकना, ऊँट सदृश वलवलाना, वन्दर जैसी आकृति वनाना, उल्लू के समान देखना, पशु के समान देखना, पशु-समान खाना-पीना, सोने मे खर्राटे भरना, हैं-हैं, ही-ही हँसना, कृत्रिम ढग से रोदन करना, मूछो का हवा मे उडना, आधी मूछें दाढी वनाना आदि उपायो का सहारा लिया जाता है।

लोक नाटको पर आरोप

शिष्ट समाज का एक वर्ग लोक-नाटको को असस्कृत, अशिष्ट और असुन्दर समझकर त्याज्य मानता है। दूसरा कला-प्रेमी वर्ग लोक-जीवन से प्रभावित होकर कहता है—"**सच तो यह है कि जव हम इन कोल, सथालो और आदिवासियों का रहन-सहन, नृत्य, सगीत आदि देखते हैं, जव हम लोक-गीतों की सुन्दर मधुर तानें सुनते हैं, जव हम अहीरो, चमारों, धोवियों का नाच देखते हैं तो हमे यह निश्चय करना मुश्किल पड जाता है कि अधिक सभ्य और सुसस्कृत कौन है? ये तथाकथित पिछडे लोग, या हम तथाकथित स्वनाम धन्य नागरिक लोग।**"

लोक-नाट्य और तथाकथित शिष्ट नाट्य-साहित्य मे भागवत एव तन्त्रगत अन्तर है। इस अन्तर का मूल कारण यह है कि लोक-नाटक सामूहिक आवश्यकताओ और प्रेरणाओ के कारण निर्मित होने से लोक-कथानको, लोक-विचारो और लोक-तन्त्रो को समेटे चलता है और जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। इसके विपरीत शिष्टजनो का नाट्य-साहित्य व्यक्ति की आवश्यकताओ और प्रेरणाओ का परिणाम होता है। लोक-नाटक सदा विकासोन्मुख होने के कारण समसामयिकता का ध्यान रखता है, उसमे परम्परा के साथ सामयिक प्रेरणा का निर्वाह होता है, वह पूरे समाज के जीवन-चरित्र, स्वभाव, विचार, आदर्श आदि को चित्रित करने, रूपरग देने मे समर्थ होता है। इसके प्रतिकूल जव-जव विशिष्ट नाट्यकार लोक-जीवन से अनभिज्ञ रहकर अपनी व्यक्तिगत अनुभूति के वल पर नाटक-शास्त्र के सिद्धान्तो के परिपालन मे सलग्न हो जाता है तो वह पिटी-पिटाई लकीर पर चलता रहता है और उसका साहित्य जन-जीवन को प्रतिविम्वित

नही कर पाता। लोक-नाट्य मे प्रौढता एव गाम्भीर्य भले ही न हो पर उसमे स्वाभाविकता और सरलता है, स्पष्टता और मधुरता है, इन नाटको के प्रतीको मे नवीनता और सुन्दरता है। तात्पर्य यह कि लोक-नाट्य मे सामुदायिक जीवन की मर्यादा के साथ सजीवता, सजगता, आस्था, विश्वास, सारल्य और सत्य-निष्ठा है। किन्तु शिष्ट नाटको मे वैयक्तिक अनुभूति के साथ व्यक्तिगत मर्यादा, समस्याओ की गम्भीरता, विचारो की सूक्ष्मता है। लोक-नाटको पर सबसे बडा आरोप अश्लीलता विषयक है। कहा जाता है कि लोक-नाटको की कथावस्तु निकृष्ट होती है और उसका हास्य भद्दा और भोडा होता है, उसके मनोविनोद की शैली अशिष्ट एव अशास्त्रीय होती है।

तथ्य तो यह है कि उक्त आरोप लोक-नाटको पर ही नही शिष्ट-नाटको पर भी लगाया जा सकता है। जिस प्रकार तथाकथित शिष्ट-नाट्य-साहित्य मे अशिष्ट साहित्य प्रचुर मात्रा मे दिखाई पडता है उसी प्रकार लोक-नाट्य-साहित्य मे भी उच्चकोटि का शिष्ट-साहित्य प्रचुरता से उपलब्ध है। इस साहित्य मे सर्वथा अपरिचित रहने के कारण ग्राम्य जनता को सर्वथा अपढ और मूर्ख मान-कर यह धारणा बना ली गयी है। इसमे सन्देह नही कि लोक-नाटको की भाषा अलकृत और पाण्डित्यपूर्ण नही होती, लोक-नाटको के छन्द दूषित और स्वच्छन्द हैं किन्तु उनकी विशेषताओ की अवहेलना कर केवल दोष-दर्शन से उनके साथ न्याय नही होगा। शिरिफ महोदय के विचारानुसार लोक-नाटको की भाषा स्पष्ट, उपयुक्त है, इनके गीत स्वाभाविक, नाटकीय, करुण, हास्य, प्रेम एव त्रासद तत्त्व से पूर्ण हैं —

"The metre is rough and ready, but the language itself is musical and expressive it is a language which calls a spade in the sense that there is one word for each material object, each action or each sentiment described, and that word is the right one The songs are natural and dramatic and abound in pathos and humour, in romance and tragedy

विशेषताएँ

लोक-नाटककार की सबसे बडी विशेषता यह है कि वह विशिष्ट नियमो, रूढियो, अन्ध परम्पराओ एव मान्यताओ के बन्धनो को तोडता हुआ प्रकृति के समान मुक्त बना रहता है। उसकी पर्यवेक्षण-शक्ति विलक्षण होती है। वह व्यक्ति की नही समाज की आवश्यकताओ, उसकी सास्कृतिक और बौद्धिक आकाक्षाओ, रुचियो, आदर्शो के अनुरूप अपने को सदैव बदलता रहता है।

"फलत उसका विकास-क्रम कभी अवरुद्ध होकर जडीभूत नहीं बना, वह प्राणवन्त और गतिशील होता गया। वह आनन्द का कारण और मनोरजन का साधन, प्रेरणा का स्रोत और कर्तव्य परायणता का माध्यम बना रहा।"

इन नाटको ने लोक-जीवन को सयत एव सुखी बनाने का सदा प्रयास किया है। सरस गीतो के माध्यम से नीति-धर्म के उपयोगी सिद्धान्तो को अवगत कराने मे लोक-नाटको का बडा हाथ रहा है।

'स्याहपोश' नामक सगीत नाटक मे एक स्थान पर गवरू पातिव्रतधर्म के सिद्धान्त को तुलसीदास के सदृश इस प्रकार समझाता है—

आगम निगम पुराण मे, किया व्यास निरधार।
उत्तम मध्यम नीच लघु, धर्म पतिव्रत चार॥
धर्म पतिव्रत चार परस्पर श्रुति पुराण यों गावें।
उत्तम पति के सिवा स्वप्न मे हूँ परपति पास न जावें॥
मध्यम को परपति पिता सुत भ्राता तुल्य दिखावें।
बचे समझ कुलकान लघु अधम अवसर को नहिं पावें॥

लोक-साहित्य के अध्ययन का निरन्तर प्रचार इस बात का प्रमाण है कि शिष्ट साहित्य और 'ग्राम्यगिरा' का भेदभाव क्रमश विलीन होता जा रहा है। जिस प्रकार सस्कृत के विद्वानो ने प्रारम्भ मे प्राकृत और अपभ्रश साहित्य की उपेक्षा की किन्तु कालान्तर मे इसकी बलवती शक्ति की परख हो जाने पर स्वागत किया, उसी प्रकार हिन्दी खडी बोली के विद्वान् लोक-नाट्य-साहित्य को जनता के क्षणिक मनोरजन का केवल साधन ही नही मानते उसे भारतीय जन-जीवन के दर्पण के रूप मे स्वीकार करने लगे हैं। लोक-नाट्य-साहित्य इतना विशाल और महत्त्वपूर्ण है कि इसमे भारतीय सस्कृति का सहज रूप देखा जा सकता है। इसमे सहस्र वर्षों तक सहिष्णु बने रहने वाले कृषको के जीवन-दर्शन का पता लगाया जा सकता है। लोक-नाटको मे वे तत्त्व निहित हैं जो समय-समय पर देशकाल के अनुरूप जीवन्त साहित्य प्रस्तुत करके लोक-जीवन को रस-सयुक्त करते रहे। यदि सहानुभूति के साथ इस विशाल साहित्य का अनुशीलन किया जाय तो इस रगमच के झीने आवरण से हमारे लोक-जीवन का शताब्दियो का इतिहास झाँकता हुआ दिखाई पडेगा। देश के विशाल जनसमूह की आशा-आकाक्षा, विजय-पराजय, आचार-व्यवहार, साहस-सघर्ष आदि की जीवित कहानी मुखरित हो उठेगी।

डॉ० हजारीप्रसाद के शब्दों मे लोक-नाटको का समस्त महत्व उनके काव्य-सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं है। इनका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य

है, एक विशाल सभ्यता का उद्घाटन, जो अब तक या तो विस्मृति के समुद्र में डूबी हुई थी या गलत समझ ली गई है। जिस प्रकार वेदो द्वारा आर्य सभ्यता का ज्ञान होता है उसी प्रकार ग्राम-गीतो द्वारा आर्य-पूर्व सभ्यता का ज्ञान होता है। ईंट-पत्थर के प्रेमी विद्वान् यदि धृष्टता न समझें तो जोर देकर कहा जा सकता है कि ग्राम-गीत ही वेदो के भाष्य का काम दे सकते हैं।

इसी प्रकार राल्फ विलियम्स ने एक बार कहा था—"लोक-साहित्य न पुराना होता है, न नया। वह तो उस वन्य वृक्ष के सदृश होता है जिसकी जड़ें अतीत की गहराइयो मे घुसी होती है, मगर जिसमे नित नई शाखाएँ, नई पत्तियां, नए फल निकलते रहते हैं।"

पन्द्रहवीं शताब्दी का रंगमंचीय नाट्य-साहित्य

[देशी भाषा मे]

जिस प्रकार श्रव्य काव्य की श्रीवृद्धि मे मध्ययुगीन मन्त महात्माओ का प्रमुख योग दान रहा है, उसी प्रकार देशी भाषा के आदि रगमचीय नाटको के सृजन एव उनके अभिनय मे इन महात्माओ ने उल्लेखनीय कार्य किया है। पन्द्रहवी शताब्दी मे ब्रजभाषा एव ब्रजबोली का प्रचार उत्तर भारत मे सर्वत्र बढता जा रहा था। साधु-सन्तो की कृपा से भगवान् कृष्ण का चरित्र उनकी मातृभाषा के माध्यम से जीवन के प्रति अनुराग उत्पन्न करने मे सहायक सिद्ध हो रहा था। ब्रजभूमि मे रासलीला के प्रेक्षण से यात्रियो, तीर्थवासियो एव ग्राम्यनिवासियो को अवर्णनीय आह्लाद प्राप्त हो रहा था। ब्रजभूमि उस काल मे राष्ट्रीय एकता एव परमार्थ प्रेरणा का स्रोत बन रही थी। जीवन की साधना ब्रजभूमि की रजलेप एव आचार्यो के दर्शन के बिना अपूर्ण मानी जाती थी।

इन आचार्यों की प्रेरणा से ब्रजभाषा और ब्रज बोली का काव्य देश के कोने-कोने मे आदर प्राप्त कर रहा था। भारत के पूर्वी भाग बगाल और आसाम में कृष्ण काव्य ने रगमच को केन्द्र बनाया। चैतन्य महाप्रभु, महापुरुष शकरदेव, माधवदेव, गोपाल अटा, रामचरण ठाकुर, द्विज भूषण, दैत्यारि ठाकुर प्रभृति महात्माओ ने श्रीमद्भागवत्, वैवर्त्त पुराण, हरिवश आदि पुराणो के आख्यानो के आधार पर कृष्ण जीवन से सम्बद्ध एकाकी नाटको की रचना की। उन्होंने आसाम के गाँव-गाँव मे नामघरो का निर्माण किया जिनमे नाट्य अभिनय के लिए अभिनय शाला की भी प्राय व्यवस्था रहती थी। उन पर पट-परिवर्तन का प्रबन्ध था। आश्चर्य का विषय है कि यूरोप से भी पूर्व इन भगवद्भक्तो ने दृश्यपरिवर्तन के समय रगीन चित्र का विधान बनाया और कृष्ण जीवन के अनुकूल दृश्यो का निर्माण किया। उदाहरण के लिए महापुरुष शकरदेव के एक नाटक का उल्लेख करना उचित होगा। शकरदेव

के प्रथम नाटक चिह्नयात्रा मे सप्त वैकुण्ठ का वर्णन आता है। इस नाटक के अभिनय के लिए उन्होने सात चित्रित रगीन चित्रपट प्रस्तुत किये। उनके शिष्य रामचरण ठाकुर विरचित शकरदेव चरित के पृष्ठ १३६१ पर इस तथ्य का उल्लेख इस प्रकार है—

"शकरदेव ने एक सन्यासी से चित्रकला सीखी। उन्होंने नाटको के अभिनय के लिए स्वत चित्रित पटो का निर्माण किया। प्रत्येक वैकुण्ठ के दृश्य निर्माण मे उपवन, सरोवर, अनन्तनाग शैया, कल्पतरु वृक्ष एव अन्य स्वर्गीय पदार्थों को वैष्णव ग्रन्थों के अनुसार उन पर चित्रित किया। तदुपरान्त उन्होंने सगीतज्ञ (वायन), सहायक (पालि) एव अभिनेता (नटुवा) का चयन किया और चेहरा (मुख) तथा अन्य अभिनयोपयोगी वस्तुओ का सकलन किया। तत्पश्चात् रगमच (रभा) निर्मित हुआ और वहाँ प्रकाश की व्यवस्था की गयी। तदुपरान्त चिह्नयात्रा नाटक अभिनीत हुआ जिसमे शकरदेवजी स्वय एक अभिनेता बने। अभिनय के प्रारम्भ मे पाँच प्रमुख अभिनेताओ का परिचय दिया गया। वे पात्र क्रमश पाँच वैकुण्ठ के अधिपति माने गए। गुरु रामराम छठे वैकुण्ठ के और स्वामी शकरदेवजी सातवें वैकुण्ठ के स्वामी बने। ६ नारी पात्र—लडके ही स्त्री पात्र के रूप मे दिखाए गए थे—हाथो मे कमल माल लेकर लक्ष्मी के रूप मे ६ वैकुण्ठ के स्वामी के समीप पहुँचे। शकरदेव का स्वर्ग लक्ष्मी विहीन रह गया। तदुपरान्त विष्णु-सेवक स्तुति करते हुए प्रत्येक स्वर्ग मे प्रविष्ट हुए और उनकी स्तुति करने लगे।"

चैतन्य महाप्रभु ने यात्रा नाटको मे साहित्यिकता की अपेक्षा सगीत और काव्य क्लिष्टता की अपेक्षा सरलता लाने का प्रयास किया। इसी कारण उस काल के यात्रानाटक स्थायी साहित्य के रूप मे उपलब्ध न हो सके। इसके विपरीत आसाम स्थित महात्माओ ने अकिया नाट मे अभिनय के रगमच प्रसाधन के साथ-साथ साहित्यिक गुणो पर भी बल दिया, अत इसका परिणाम यह हुआ कि ये अकिया नाट अपनी छटा से हिन्दी नाट्य साहित्य को प्रोद्भापित करने मे समर्थ हो रहे हैं।

शकरदेव के १२, माधवदेव के ६, गोपाल अटा के २, रामचरण ठाकुर के दो, द्विजभूपण के एक और दैत्यारि ठाकुर के दो अकिया नाट अभी तक उपलब्ध हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त उस काल मे और कितने नाटक अभिनीत हुए उनका विवरण अभी तक अन्धकार मे पडा है। शोधकर्ताओ के लिए यह सामग्री अभी अलभ्य बनी है।

इन सभी नाटको मे कृष्ण जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओ के आधार

पर कथा वस्तु प्रस्तुत की गयी है। कृष्ण जन्म मे लेकर स्यमन्तक-मणि-हरण तक की घटनाओ को ग्रहण किया गया है। राम-जीवन के आधार पर केवल एक ही नाटक 'रामविजयनाट' लिखा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मिथिला, बगाल और आसाम मे गीतगोविन्द के प्रभाव तथा अन्य कई कारणो मे कृष्ण की उपासना राम की अपेक्षा अधिक प्रचलित हुई। विद्यापति, चण्डीदास, गोविन्ददास आदि महात्माओ की रचना की मूलभित्ति कृष्णलीला ही रही है।

सम्भवत मधुर रम की दृष्टि से कृष्ण-जीवन अधिक उपयोगी था भी। कृष्ण के जीवन मे शृङ्गार के साथ वात्सल्य, अद्‌भुत, भयानक, रौद्र आदि रसों के लिए विशेष सामग्री थी और नटवर कृष्ण की लीलाएँ रगमच पर अधिक हृदय ग्राही भी थी।

रंगमंच की रचना

महापुरुष शकरदेव ने दो प्रकार की रगशालाओ मे अभिनय की व्यवस्था की। नामघरो मे एक विस्तृत रगशाला स्थायी रूप मे निर्मित रहती थी जिसमे समय-समय पर वैष्णव भक्तो द्वारा नाटक अभिनीत होते। दूसरे प्रकार की अस्थायी रगशालाएँ खुले मैदान मे विशेष पर्वो के अवसर पर निर्मित होती जो सभाघर के नाम मे अभिहित होती। ये सभाघर एक विशाल पडाल के रूप मे होते जिसमे रगमच पर पच्चीकारी के काम वाली चाँदनी टँगी होती। दर्शको को दो भागो मे विभाजित कर दिया जाता और उनके मध्य मे यातायात के लिए मार्ग होता। रगमच के एक उच्च स्थान पर एक घेरे के अन्दर कृष्ण-मूर्त्ति स्थापित की जाती और सर्व प्रथम उसकी पूजा की जाती। चिरप्रचलित है कि 'भावना करिले कृष्ण पूजिवे लागय।' उस घेरे के सन्निकट गायन वायन वृन्द स्थित होता। इनके पीछे एक चित्रित यवनिका होती। दर्शको के सम्मुख आने से पूर्व पात्र इस यवनिका के पीछे नर्त्तन दिखाता। इसी यवनिका के पीछे थोडी दूरी पर नेपथ्यगृह होता जिसमे नाटकोपयोगी सभी सामग्री सगृहीत होती। इसी स्थान पर पात्रो का प्रसाधन किया जाता। कृष्णमूर्त्ति के समीप ही एक स्थान पात्रो की प्रतीक्षा करने के लिए निर्द्धारित था।

रगमच के समीप पथ के दोनो ओर गलीचे या कम्बल बिछा दिये जाते जिन पर महन्त और गोस्वामी विराजमान होते। तदुपरान्त चटाइयाँ बिछा दी जाती और उन पर दर्शकगण एक दूसरे से सटकर बैठते। रगमच के एक ओर पुरुषो के लिए और दूसरी ओर स्त्रियो के लिए स्थान निर्द्धारित होता।

यक्षगान, यात्रा, दशावतार राम, स्वाग, नौटकी, भवाई आदि लोक नाट्यो के सदृश अकिमा नाट भी रात्रि मे भोजनोपरान्त प्रारम्भ होता है। नाटक सारी रात होता है अत प्रकाश की व्यवस्था अनिवार्य है। झाड फानूस पर मोमबत्ती सजाई जाती थी और मिट्टी निर्मित दीपको से सरसो के तेल द्वारा प्रकाश किया जाता था। केले निर्मित खम्भो पर मिट्टी के दीपक प्राय सुशोभित होते थे। इन दीपको मे रुई या कपडे की वत्ती के स्थान पर, तेल मे भीगे बिनौलो के द्वारा प्रकाश किया जाता था। मशाल की भी व्यवस्था की जाती थी। ये मशाल बाँस मे कपडे लपेट कर तैयार किए जाते थे और सरसो के तेल से उन मे प्रकाश किया जाता था। किसी पात्र विशेष पर नृत्यकाल मे तीव्र प्रकाश के लिए भी व्यवस्था थी।

प्रसाधन

अकिया नाट मे स्त्री पात्र के लिए प्राय किशोर बालको को स्त्रियोचित वस्त्राभूषण के द्वारा सुसज्जित किया जाता है। आभूषणो मे आभेद्य, कुडल, मेखला, किंकिणी, नूपुर, हार, हेमसूत्र इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

तीन प्रकार के वस्त्र उपयोग मे आते हैं—शुद्धश्वेत, विचित्र और चमकीले। धार्मिकपुरुष, देवता, यक्ष, ब्राह्मण, क्षत्रिय, स्त्रियाँ, तथा उच्चपात्र शुद्ध वस्त्र धारण करते हैं। मद्यप, विक्षिप्त, विरक्त आदि विचित्र चीथडे वाले वस्त्र पहनते है। योद्धा, प्रेमी, राजा, मत्री आदि चमकीले तडक-भडक वाले वस्त्र धारण करते है। अकिया नाट मे भावाभिव्यक्ति के हित वस्त्राभूषण को अधिक महत्त्व दिया जाता है। स्त्रियो के केशविन्यास एव पुरुषो के दाढी मूछ, की रचना मे कौशल की आवश्यकता होती है।

अकिया नाट मे पात्रो को विभिन्न रगो के द्वारा सुसज्जित किया जाता है—श्वेत, नील, पीत एव रक्त वर्ण के मेल से अनेक प्रकार के रग प्रस्तुत किए जाते हैं। दैत्य, दानव, राक्षस, पिशाच आदि पात्रो को कृष्णवर्ण के, यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर को स्वर्ण वर्ण के एव विभिन्न प्रदेशवासियो को उनकी आकृति के अनुसार शृगार से सुसज्जित किया जाता है।

पशु पक्षी एव जानवरो के मुखडे (चेहरे) का प्रयोग अकनाट की विशेषता है। बाँसो एव हल्की लकडी से निर्मित आयुधो का व्यवहार होता है। विभिन्न चेहरो के द्वारा पात्रो के पहचानने मे बडी सहायता मिलती है। देवता, असुर, राक्षस, भालू-बन्दर, जानवर तदनुकूल वेशभूषा, पख एव पुच्छविषाण द्वारा पहचाने जाते हैं। ब्रह्मा, गणेश, बकासुर, रावण, वासुकि, हनुमान,

जामवन्त, गरुड, वाराह आदि की पहचान उनकी वेशभूषा से होती है। कथानक के पौराणिक होने से रथ, सिंहासन, पर्वत, वृक्ष, स्वर्ग, नरक आदि की कल्पना कराने के लिए वस्त्र, वेंत, बाँस, हल्की लकडी, जानवरो के वाल, स्वर्ण, रजत, टीन, अबरक, खडिया मिट्टी, लाख आदि हल्के उपकरण काम मे लाए जाते हैं। लोहा जैसे भारी पदार्थों का उपयोग वर्जित माना जाता है।

पुरुषपात्र मुकुट, नकली मूछ-दाढी, एव वय के अनुसार केश धारण करते हैं।

मूत्रधार, एडी तक का एक वडा लम्बा चोगा, ऊँची पगडी अथवा सिर पर मुकुट धारण करता है। प्रधानामात्य का भी यही वेश होता है, अन्तर केवल इतना होता है कि मुकुट के स्थान पर एक प्रकार की टोपी होती है। राजा, दरवारी, योद्धा थेगा (Frausers) धारण करते हैं। स्त्रियाँ प्राय रगीन मेखला (Colonred gowns) पहनती हैं। साधु महात्मा गेरुवे रग का कौपीन धारण करते हैं। विरक्त जन कम्बल पहनते हैं और शिव वाघाम्बर धारण करते हैं।

अभिनय

अकिया नाट मे पूर्वरग प्रक्रिया का वडा ही महत्त्व है। पटोद्घाटन के पूर्व प्रत्याहार, अवतरण, आरम्भ, आश्रावण, वक्त्रपाणि, परिघट्टन, सङ्घोटना, मार्गासारित, आसारित और गीतिविधि का प्रयोग किया जाता है। वाद्ययन्त्रों की विधिवत् सजावट—प्रत्याहार, गायक वृन्द का निवेशन—अवतरण, परिगीत के लिए क्रियारम्भ—आरम्भ, वाद्य यन्त्रो को स्वरसन्धान के उपयुक्त वनाना—आश्रावण, वाद्ययन्त्रो को वृत्तिविभाग के अनुकूल मुसज्जित करना—वक्त्रपाणि, वीणा तारो को स्वरानुकूल वनाना—परिघट्टना, ताल के अनुसार हाथ की विभिन्न मुद्राओ का नियोजन—सघोटना, तवला ढोल का तार समन्वित वाद्ययन्त्रो के साथ सामञ्जस्य—मार्गोत्सारित, कालपात का अभ्यास—आसारित, देवताओ की कीर्त्तन प्रक्रिया को गीतविधि कहते हैं। नाटयशास्त्र के प्राय इन सभी विधि-विधानों का उपयोग अकिया नाट की पूर्वरग प्रक्रिया मे पाया जाता है।

समयाभाव की दशा मे भी प्रत्याहार, अवतरण, आरम्भ, आश्रावण, आसारित एव गीतिविधि नामक छ प्रक्रियाओ का अवश्य प्रयोग होता है। तदुपरान्त क्रमश गीतवेग की वृद्धि करता हुआ ताडव नृत्य दिखाया जाता है। अब सूत्रधार उत्थापन क्रिया के द्वारा ध्वजारोहण करता है। और मच पर चतुर्दिक घूमता हुआ विश्वनियन्ता की स्तुति करता है। जिसे परिवर्त्तन कहते

हैं। अब नान्दी पाठ होता है। अकिया नाट मे नादी से पूर्व धेमाली नृत्य भी होता है। नर्त्तक वृत्ताकर खडे होकर ढोल के सतत घोष के साथ नर्त्तन करते हैं। और नर्त्तन के उपरान्त गुरु-महिमा का गान होता है। तदुपरान्त सूत्रधार रगमच पर नृत्य करता है और नृत्य के अन्त मे नादी गान करता है। तदु-परान्त अन्य पात्र आते हैं।

आसाम मे अभिनेता को नद्रुवा अथवा भावरिया कहते हैं। नाटक के सभी पात्रो मे सूत्रधार का प्रमुख स्थान होता है। सस्कृत नाट्यशैली के अनुसार अकिया नाट मे भी प्रस्तावना के अन्त मे 'इति सूत्र निष्क्रान्त' का विधान पाया जाता है। किन्तु सस्कृत नाटको के सूत्रधार की भाँति अकिया नाट का सूत्रधार प्रस्तावना के अन्त मे निष्क्रमण के उपरान्त सदा के लिए अदृश्य नही होता। वह तो निष्क्रमण के उपरान्त पुन रगमच पर प्रविष्ट होता है और न केवल समवेत सगीत मे भाग लेता है प्रत्युत श्लोक और भट्टिमा का सस्वर पाठ करता है। तथ्य तो यह है कि उसकी उपस्थिति अभिनयकाल मे आद्योपान्त अनिवार्य रहती है। वह कथाशो को समन्वित करने के लिए समय-समय पर गद्य का प्रयोग करता है और श्रोताओ को कथा से परिचित कराने का प्रयत्न करता चलता है। अकिया नाट के अन्य पात्र कथोपकथन, युद्ध, नृत्य एव अन्य क्रियाओ के द्वारा नाटक की कथा वृद्धि करते हैं किन्तु सूत्रधार इनमे भाग न लेकर केवल कथावाचक व्यास के रूप मे वाणी द्वारा कथासूत्रो को सम्बद्ध करता चलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ओझपाली मण्डली के नेता ही अकिया नाट मे सूत्रधार नाम से अभिहित हुए। स्वामी शकरदेव ने भी प्रारम्भ मे ओझपाली मण्डली का नेतृत्व किया। वे अपनी मण्डली के साथ कीर्त्तन किया करते थे। सम्भवत उसी कीर्त्तन मण्डली को उन्होने नाट्यमण्डली मे परिवर्तित कर दिया हो और स्वत सूत्रधार का पाठ किया हो।

ओझपाली का विकास

ओझपाली आसाम का अति प्रसिद्ध लोक नृत्य था। उसमे नृत्य के साथ सगीत का समावेश किया गया। कालान्तर मे एक व्यक्ति गीतो की शृखला जोडने और क्रमबद्ध गीतो की रचना करने का कार्य करने लगा। लोकगीतो की इसी शैली मे कृष्ण कथानक को लेकर नाटको की रचना होने लगी। शकरदेव, माधवदेव आदि महात्माओ ने इस शैली को भक्ति सम्बन्धी विचारो के प्रचार के उपयुक्त समझकर ग्रहण किया और सर्वसाधारण भक्तो के समझने योग्य ब्रज, अवधी मैथिली, बगला, असमिया मिश्रित ब्रजबुली मे अकिया नाट का अभिनय प्रारम्भ

किया। देशी भाषा की यह नाट्यशैली मुसलमानों के आक्रमण काल में भारत के उन भूभागों में भली प्रकार पल्लवित हुई, जहाँ हिन्दू राजाओं की सत्ता के कारण नाटकों का अभिनय वर्जित नहीं था। आसाम और उड़ीसा पर मुसलमानों का आधिपत्य अपेक्षाकृत विलम्ब से हुआ, अतः आसाम में अंकिया नाट और उड़ीसा में यात्रा नाटक स्वाभाविक गति से विकासोन्मुख होते गए।

झूमरा

माधवदेव ने अपने पाँच नाटकों का नाम झूमरा दिया है। उनके झूमरा नाटक हैं—चोरधरझूमरा, भूमि लुटिया झूमरा, पिंजरा गुचावा झूमरा, भोजन विहार झूमरा और रास झूमरा। प्रश्न उठता है कि झूमरा नाटक के विकास का क्या इतिहास है? यह एकांकी नाटक संगीत प्रधान होता है। यत्रतत्र गद्य भाग आता है जिसका सूत्रधार एक विशेष शैली में उच्चारण करता है। जहाँ कहीं कोई पात्र गद्य के माध्यम से संवाद में भाग लेता है वहाँ उसका उद्देश्य अपने गाए गीतों का अर्थ स्पष्ट करना होता है।

कतिपय विद्वानों का मत है कि झूमरा नाटक का उद्भव एक नृत्य विशेष से हुआ होगा जिसमें झूमरा नामक राग में सामूहिक गायन होता था। विद्यापति ने जिन स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ कई स्त्रियों के सामूहिक गीत की ओर ही निर्देश पाया जाता है। एक स्थान पर विद्यापति लिखते हैं—

"गावा सखि लोरी झूमरी मयन आराधने जाउँ।"

(ओ सखियो' झूमरी गान गाओ, हम सब कामदेव की आराधना को जा रही हैं।)

दैत्यारि ठाकुर ने भी एक झूमरा नाटक लिखा है जिसका नाम है 'अर्जुन-भजन झूमरा।'

भाषा

वैष्णव धर्म के पुनरुत्थान के साथ भारत के अधिकांश भागों में भाषा-सम्बन्धी एक नयी लहर बड़े वेग से फैलने लगी। दूरदर्शी वैष्णव भक्तों ने स्थानीय जनता के कल्याण के लिए एक ओर तो प्रान्तीय भाषाओं में गीतों की स्थापना की किन्तु दूसरी ओर सारे देश के वैष्णव समाज की भाषा एकता के लिए कृष्ण के जन्मस्थान की अपभ्रंश भाषा शौरसेनी की पुत्री व्रजभाषा को आधार बनाकर अवधी, मैथिली, बँगला और असामिया के मिश्रण से वैष्णव भाषा का आविष्कार किया, वैष्णव भक्तों के लिए गोकुल और

मथुरा की यात्रा का वही महत्त्व था जो असहयोग मे साबरमती और सेवाग्राम का। कृष्णरज से पावन और आचार्यों की पर्णकुटीरो से सम्पन्न इस व्रजभूमि मे वैष्णव भक्त वर्षों निवास करते। यहाँ के अन्नजल के साथ यहाँ की भाषा को आत्मसात् करने का प्रयास करते। महाराष्ट्र से कामरूप तक के भक्तो ने इस भाषा को धार्मिक भाषा के रूप मे सम्मानित करके अपने शिष्यो मे प्रचारित किया। प्राय सम्पूर्ण उत्तर भारत की वैष्णव जनता ने मुक्तकठ से इस स्तुत्य प्रयत्न की सराहना की। देश मे नैतिकता के उत्थान के साथ-साथ राष्ट्रभाषा समस्या के सुलझाने की इस प्रक्रिया की जितनी प्रशसा की जाय वह अपर्याप्त है। इसी प्रयत्न का फल है कि आप उत्तर भारत के किसी भी भाग मे चले जायें वैष्णव भाषा के माध्यम से अपना व्यवहार चलाने मे आप को किसी कठिनाई का सामना नही करना पडेगा।

शौरसेनी मूलत सस्कृत नाटको की भाषा रही। इस भाषा के प्रचार का यही प्रमाण है कि यह प्रत्येक प्रान्त मे रगमच पर प्रयुक्त होती रही। अत जनता किसी-न-किसी रूप मे पीढियो तक इससे परिचित रही और जब नाटको मे उसी की पुत्री को स्थान दिया गया तो दर्शको ने प्रसन्नतापूर्वक इस परिवर्तन को स्वीकार कर लिया। दृश्य-काव्यो मे आराध्य देव कृष्ण को अपनी मातृ-भाषा का प्रयोग करते देख जनता को उल्लास हुआ। बालकृष्ण माता यशोदा की मातृ-भाषा के माध्यम से मक्खन-रोटी मांगता, गोपियो से छेडछाड करता, कालियनाग को फटकारता, दुरात्मा कस, चाणूर, मुष्टिक को ललकारता। भाषा-सम्बन्धी यह नया परिवर्तन धर्म के नाम पर कितना स्वाभाविक प्रतीत होता, इसकी कल्पना इसी तथ्य के द्वारा की जा सकती है कि आसाम के ये अकिया नाटक स्थान-स्थान पर अभिनीत हुये और जनता ने इनका हृदय खोलकर स्वागत किया।

यह स्वाभाविक ही था कि नाटक को बोधगम्य बनाने के लिए व्रजबुली मे स्थानीय भाषा के अति प्रचलित शब्दों को भी प्रयुक्त किया जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि वैष्णवो की यह भाषा समृद्ध होती गई और वैष्णव सम्प्रदाय मे व्रजबोली के नाम मे एक नई भाषा चल पडी। कलकत्ता विश्व-विद्यालय के प्रो० बाबू सुकुमार सेन एक स्थान पर लिखते है—This artificial language was given the name of Brajbuli because it reminded one of Braja, the land santified by the presence of Radha and Krishna"

आसाम के एक विद्वान् ने अकिया नाट की भाषा पर विचार करते हुए

एक स्थान पर लिखा है—"Brajbuli must have been based on some spoken dialect, for no artificial language is known to have been created out of nothing The Gatha language of the Buddhists is based on Sanskrit Pali an artificial literary language is based on a local dialect Prakrits are not so much varieties of speech of the people as of the Grammarians But they are all based on local dialects So is the case with Brajbuli There are grounds for supposing that it is based on the old dialect of Mathura in which Mirabai wrote her commentary on the Gita Govind, Surdas composed his Sursagar and Swami Haridas his Sadharan Siddhanta We may accordingly conclude that Shankar Deo used Brajbuli in his drama because it was supposed to have been the language of the place (Braja) where Sauraseni, the usual Prakrit of the Sanskrit drama, was spoken"

अर्थात् ब्रजबुलि का आधार निश्चित रूप से कोई-न-कोई बोलचाल की भाषा रही होगी, क्योंकि भाषा-विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि कोई भी कृत्रिम भाषा निराधार निर्मित नही हो सकती। बौद्धो ने अपनी गाथा-भाषा को संस्कृत के आधार पर निर्मित किया था। पालि नामक कृत्रिम साहित्यिक भाषा स्थान-विशेष के बोलचाल की भाषा के बल पर निर्मित हुई थी। प्राकृतिक भाषा के भेद-उपभेद सम्भवत वैय्याकरणो के बुद्धि बल पर निर्मित हुए थे। लोक मे प्रचलित बोलचाल की भाषाओ का उतना आधार नही था, किन्तु यह तो निर्विवाद है कि प्राकृत के भिन्न प्रकार किसी-न-किसी स्थान पर बोली जाने वाली भाषा के बल पर ही निर्मित हुए होगे। ठीक यही स्थिति व्रज बोली की भी है। इस सम्भावना के ठोस आधार हैं कि व्रज बोली मथुरा के समीप व्यवहृत प्राचीन जन-भाषा का आधार लेकर खडी हुई होगी। यह मथुरा की वही जनभाषा थी, जिसमे मीराबाई ने अपनी काव्य-रचना की, सूरदास ने 'सूरसागर' का सृजन किया और स्वामी हरिदास ने अपने ग्रन्थ 'साधारण सिद्धान्त' को विरचित किया। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि शकरदेव ने अपने नाटको मे ब्रजबुलि का व्यवहार केवल इस कारण किया कि यह भाषा उस ब्रज की जन-भाषा थी जहाँ कि शौरसेनी नामक प्राकृत संस्कृत नाटको मे व्यवहृत होती थी।

इन नाटको की भाषा मे व्रजभाषा के साथ-साथ मैथिली का भी पुट पाया जाता है। सम्भवत इसका मूल कारण यह है कि गीतगोविन्द की शैली

पर अभिनीत ये नाटक भारत के पूर्वी भागो मे प्रचलित हुए और पूर्वी भागो की जनभाषा पर मैथिली कवियो का बडा प्रभाव रहा है। नाटको के अभिनय की परम्परा पश्चिम मे मुसलमानी राज्य की स्थापना के साथ-साथ क्रमश विलीन होती गई किन्तु पूर्वी भागो मे अपेक्षाकृत अधिक काल तक हिन्दू राज्यो के प्रभाव के कारण नाटक अभिनीत होते रहे। गौड देश के प्रसिद्ध कवि यशो-राज और उडीसा के महाकवि रामानन्द राय आदि ने व्रजबुली मे मधुर मैथिली शब्दावली का योग देकर भाषा को मधुरिमा से आप्लुत कर दिया।

'आलोचना' मे मेरा यह लेख प्रकाशित हुआ था। इसे पढकर आसाम के कई मित्रो ने अपने सुझाव मेरे पास इस सम्बन्ध मे भेजे। उनका भी यही मत है कि शकरदेव की भाषा केवल आसाम की भाषा नही, वह सम्पूर्ण उत्तर भारत मे वैष्णव समाज की काव्यभाषा थी। भारत के दूरस्थ भागो मे निवास करने वाले वैष्णव भक्ति-भावना से भरे अपने काव्यो मे इस भाषा का प्रयोग करते थे, अत अनेक भक्त कवियो की सम्पन्न भाषा-शक्ति का सहारा पाकर यह भाषा उत्तरोत्तर समृद्ध बनती गई और आज इसका विपुल साहित्य इस तथ्य का प्रमाण है कि इन वैष्णवो के काव्यो मे व्यवहृत व्रजबुलि देश को एकता के सूत्र मे बाँधने मे सहायक हुई।

समस्यानाटक का उत्स और रूप

समस्यानाटक हिन्दी-नाट्य-साहित्य की अपेक्षाकृत नवीन किन्तु महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। नाटक की यह विधा पाश्चात्य साहित्य मे लगभग एक शताब्दी पूर्व आविर्भूत हुई थी। इसके मूल मे सामाजिक नव-जागरण की चेतना विद्यमान थी जो साहित्य की प्रगतिवादी विचारधारा से शक्ति ग्रहण कर रही थी। वास्तव मे १९वीं शती का उत्तरार्द्ध योरप मे नवजागरण का काल था। इस युग मे वौद्धिक दृष्टिकोण का विकास हो रहा था जिसने परम्परागत जीवन मूल्यो को नए सिरे से परखने का आह्वान किया। लोग समझने लगे थे कि प्राचीन जीवनादर्श वर्तमान युगीन जीवन को सचालित करने मे समर्थ नही हो सकते। अत उपयुक्त जीवन मूल्यो की खोज करने के लिए किसी तर्क-सगत वैज्ञानिक आधार की माँग उभर रही थी। लोगो मे सामाजिक रूढियो के प्रति अनास्था का भाव प्रवल होता जा रहा था। वे चिरन्तन आदर्शो के प्रति अन्ध-श्रद्धा का उपहास करने लगे थे। युग-जीवन के प्रति यही यथार्थवादी एव वौद्धिक दृष्टिकोण पाश्चात्य समस्यानाटक का उत्स था।

विचारो में वही क्रान्ति जो पाश्चात्य समस्यानाटक की उत्स थी सन् १९२० के पश्चात् भारत मे भी परिलक्षित होने लगी थी। व्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थीयोसोफी आदि सस्थाएँ अनेक सामाजिक रूढियो और धार्मिक अविश्वासो पर पूर्व ही आघात कर चुकी थी। असहयोग आन्दोलन ने समाज मे एक नई चेतना का वीज वपन किया जिससे राष्ट्रीय चिन्ताधारा मे विचारो की नई क्रान्ति उपस्थित हुई। इन आन्दोलनो से प्रेरित होकर समाज एक नवीन जीवन दर्शन की खोज मे तत्पर हो रहा था। सदियो की परतन्त्रता से हतप्रभ समाज स्वतत्र होने के लिए आतुर-सा हो उठा। इसके कारण व्यक्ति के विचारो मे उत्तेजना और जीवन की गति मे तीव्रता का समावेश हुआ। युग-जीवन अधिक वौद्धिक और तर्क-प्रधान हो गया। जीवन मूल्यो को नए सिरे से परखने और युग जीवन सचालन के लिए नवीन आदर्शों के अनुसन्धान का उत्साह वढा। इन मूल्यो के निर्धारण मे किसी तर्क सम्मत मनोवैज्ञानिक भूमिका को ग्रहण करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस युग का जागरूक साहित्यकार भी

पुरातन का निर्मोक उतारकर सामाजिक जीवन के नव-मूल्याकन की ओर प्रवृत्त हुआ। इस उत्साह मे परम्परागत असगत स्थापनाओ के प्रति उपहास और व्यग्य की वृत्ति तो मुखर हुई किन्तु नवीन आदर्शों के अनुसन्धान मे रत व्यक्ति को अभी कोई ऐसा मार्ग नही मिल सका जो पुरातन का स्थानापन्न हो सके। युग-जीवन की चेतना का यही रूप समस्यानाटको मे अभिव्यक्त हुआ। यही कारण है कि हिन्दी समस्यानाटक मे तात्कालिक जीवन की विषमताओ, असगत रूढिगत विचारो का उपहासास्पद और व्यग्यात्मक चित्रण किया गया है। जीवन के इस विश्लेषण मे सामाजिक ढाँचे के प्रति उपेक्षा का भाव जितना प्रबल रूप मे उपलब्ध होता है समाधान के प्रति उतना बौद्धिक आभास नही। अतएव समस्यानाटक प्रमाता मे विचारोद्बोधन तो कर देता है पर रस-मग्न करने की सम्भावना अल्प ही होती है। इस साहित्य मे आनन्द तत्व अत्यन्त क्षीण होता है, शिव की भावना से प्रेरित तो होता है किन्तु शिव का कोई मार्ग प्रशस्त नही करता। फिर भी यहाँ शिव की पुरातन मान्यताओ से दृष्टिभेद अवश्य परिलक्षित होता है। यहाँ शिव की भावना अधिक व्यावहारिक, भौतिक और समयोपयोगी होती है। सत्य के प्रति भी दृष्टि वस्तु-सत्य तक सिमटकर भौतिकवाद मे ही सीमित रह जाती है।

साहित्यिक परिस्थिति

जिस समय हिन्दी समस्यानाटक का आविर्भाव हो रहा था उस समय साहित्य मे प्रगतिवादी विचारधारा और यथार्थवादी शैली का महत्त्व बढ रहा था। अत समस्यानाटक पर भी इनका प्रभाव पडना अनिवार्य था। इस साहित्यिक आन्दोलन के मूल मे तात्कालिक समाज के प्रति आस्था और उसकी दुर्बलताओ के प्रति विद्रोह का भाव ही प्रबल था। नाटककारो का ध्यान भी युग-जीवन की बहुमुखी समस्याओ की ओर आकृष्ट हुआ। उन्होंने भी समसामयिक समस्याओ के विभिन्न पहलुओं की अन्तर्बाह्य प्रकृति का यथातथ्य चित्रण प्रारम्भ किया। व्यक्ति को तिलमिला देनी वाली जीवन की विद्रूपताओ का यह नग्न प्रदर्शन निरुद्देश्य एव प्रभावहीन नही है। इसमे व्यक्ति और समाज का खोखलापन दिखाकर उसे सक्रिय बनाने की प्रेरणा अन्तर्निहित रहती है। युग-जीवन को विषाक्त करने वाले पुरातन आदर्शों के निवारणार्थ समाज को उद्वेलित करने की इसमे अद्भुत क्षमता है। इस श्रेणी के नाटककार का यह विश्वास होता है कि सामाजिक जीवन की समस्या और वास्तविकता को उपहासात्मक एव व्यग्यात्मक रूप मे जितना अनावृत्त कर प्रभविष्णु बनाया जायगा उतनी ही व्यग्रता के साथ सामाजिक उसके समाधान-शोध की ओर तत्पर

होगा। समस्यानाटककार इसी प्रभाव को रगमच पर उपस्थित करने मे अपनी सफलता समझता है। उसके लिए घटना का कौतूहल नही जीवन का वेग प्रधान होता है। बौद्धिक चिन्तन मे आन्तरिक ऊहापोह की प्रधानता होती है। वर्तमान युग-जीवन अत्यन्त बौद्धिक हो गया है। अत आज की समष्टिगत चेतना मे एक विशेष प्रकार का आन्तरिक वेग परिलक्षित होता है। पात्र 'नश्वर विचार' के प्रतीक ही अधिक होते हैं, घटनाएँ भी दैनिक जीवन के आन्तरिक सघर्षो का ही साक्षात्कार कराती हैं। तात्पर्य यह कि समस्यानाटक रूढियो से आक्रान्त और जडीभूत जीवन को झकझोर कर उसे गतिशील बनाता है। इस प्रकार रस का आस्वादन कराकर प्रमाता को आत्मविस्मृत न करता हुआ भी, प्रभाव मे उपादेय सिद्ध होता है। मानव-मन मे स्वभावत अपने चतुर्दिक फैले हुए समाज और परिवेश के प्रति मोह होता है, उसकी दुर्व्यवस्थाओ से उसे पीडा होती है क्योकि वह स्वय समाज का ही एक अग है। आत्मविकास के लिए उसे समाज से जूझना पडता है। यदि सामाजिक परिस्थितियाँ प्रतिकूल हुईं तो व्यक्ति का विकास अवरुद्ध हो जाता है। अतएव सामाजिक परिस्थितियो और विधानों की समता-विषमता को जानने की उसमे प्रबल आकाक्षा होती है। यही आकर्षण उसे समस्यानाटक के सर्जन और अध्ययन की ओर आकृष्ट करता है। मनुष्य की इस जिज्ञासा को तृप्त करने, उसे सक्रिय बनाने, उसमे विचार उद्बुद्ध करने और उसे विवेकशील बनाने मे समस्यानाटक का महत्वपूर्ण योग है। इस प्रकार यह समस्यानाटक समाज के सम्मुख नवीन और स्वतन्त्र (परम्परागत जीवन-मूल्यो से भिन्न) चिन्तन का मार्ग प्रशस्त करता है।

जिस प्रकार जीवन को उदात्त बनाने मे आदर्शवादी नाटक का महत्व है उसी प्रकार युग जीवन की विभीषिका के प्रति सामाजिक को जागरूक बनाने मे समस्यानाटक का भी महत्त्व है। यदि आदर्शवादी नाटक अतीत की रमणीयताओ और विभूतियो का सकलन कर एक अनुकरणीय जीवन प्रस्तुत कर सकता है तो समस्यानाटक तात्कालिक जीवन को कुण्ठित करने वाले पुरातन आदर्शों के निर्मोक को चीरकर फेंक देना चाहता है और युगानुकूल नवीन जीवन दर्शन की दिशा निर्दिष्ट करना चाहता है। इस प्रकार समस्यानाटक आदर्शवादी साहित्य का विरोधी नही प्रत्युत पूरक बनकर आता है। जहाँ एक सामाजिक के समक्ष उत्कृष्ट आदर्शों को प्रस्तुत करता है वहाँ दूसरा त्याज्य आदर्शों की ओर ध्यान आकृष्ट करता है, जीवन को जडीभूत बनाने वाली रूढियो के प्रति विद्रोह करता है। इस प्रकार जीवन की पूर्णोपलब्धि मे नाटक की इन दोनो विधाओ का अपना स्वतन्त्र योगदान है।

वर्तमान हिन्दी साहित्य और समस्यानाटक

आज हिन्दी साहित्य मे समस्यानाटक का प्राचुर्य स्पष्ट दिखाई दे रहा है। इसका प्रधान कारण समाज की मनोदशा और जीवनगत ग्रथियो की बहुलता है। समस्यानाटककार समसामयिक जीवन की ग्रन्थियो को उद्घाटित कर समाज के नव-निर्माण की सम्भावनाओ का निदर्शन करता है। वस्तुत हमारा समाज अभी निर्माण के पथ पर है। समस्यानाटककार व्यक्ति और समाज के रुग्ण स्थलो को इगित कर रचनात्मक कार्य के लिए क्षेत्र बताता है। यही कारण है कि समस्यानाटक आज इतना अधिक लोकप्रिय हो गया है। इसकी लोकप्रियता पर विचार करते हुए डा० नगेन्द्र लिखते हैं—"आज समस्यानाटक एक साथ लोकप्रिय क्यो हो गया ? वास्तव मे इस प्रश्न का सम्बन्ध जहाँ हमारे राजनीतिक और सामाजिक जीवन की बढती हुई समस्याओ से है वहाँ पिछले युग की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति—पलायनवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी कम नही है। एक ओर हमारे साहित्य मे वर्तमान सघर्ष से घबराकर कल्पना लोक अथवा स्वर्ण अतीत की खोज हो रही थी, तो दूसरी ओर कतिपय लेखको के मन मे यह भावना भी दृढ होने लग गई थी कि आज का जीवन न तो सुधार युग का स्थूल आदर्शवाद चाहता है और न कल्पना लोक मे पलायन से ही काम चल सकता है। भावुकता जीवन की विषमताओ को भुलाने मे सहायक हो सकती है पर भुलावा कब तक चलेगा, अब तो आवश्यकता है विषमताओ के मूल कारणो की छानबीन करने और परिस्थितियों से सामञ्जस्य स्थापित करते हुए सुलझाने की। आज यही भावना हमारे सामने अधिक प्रकट और सशक्त रूप में आई है। हमारे वैयक्तिक, सामाजिक एव राजनीतिक जीवन मे ग्रथियाँ पडी हुई हैं—जिनको खोलना आज हमारा नित्य कर्म है। अत उचित है कि हमारा साहित्य आज इन्ही ग्रथियो को सुलझाने मे अधिक व्यस्त रहे। इस प्रकार हमारा दृष्टिकोण बहुत कुछ भौतिक एव आलोचनात्मक हो गया है और इस बढती हुई भौतिकता और समस्यानाटको की लोकप्रियता का घनिष्ट सम्बन्ध है।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि समस्यानाटक मे समसामयिक आवश्यकता के अनुरूप जीवन के महत्वपूर्ण अश की सशक्त अभिव्यक्ति होती है। समस्यानाटककार जीवन से जूझता है, उसकी विभीषिका के प्रति सामाजिक को जागरूक करता है, व्यक्ति के खोखलेपन, समाज और राजनीति के आडम्बर, रूढियो की अनुपयुक्तता आदि का उपहासास्पद और व्यग्यात्मक चित्रण कर प्रमाता

---

[1] आधुनिक हिंदी नाटक—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ५५-५६

की चेतना को झकझोर देता है। उसमे विचार उद्‌बुद्ध कर उसे गतिशील बनाता है। इस प्रकार समस्यानाटक समसामयिक जीवन के लिए अत्यन्त उपादेय सिद्ध हुआ है।

समस्यानाटक की साहित्यिकता

साहित्यिक कृतियो के स्पष्टत दो वर्ग होते हैं। एक वर्ग उन रचनाओ का है जो इस सिद्धान्त से अनुप्रेरित होती हैं कि "कला कला के लिए है।" ये रचनाएँ अधिकतर आत्मनिष्ठ (Subjective) होती हैं और उनका उद्देश्य आनन्द की उपलब्धि कराना होता है। इसमे विशुद्ध कल्पना का आश्रय ग्रहण कर स्रष्टा उच्छ्‌वसित भावभूमि पर एक रमणीय लोक का निर्माण करता है जिसकी अमित छवि पाठक को आनन्द प्रदान करती हुई रसमग्न बना देती है अथवा शील वैचित्र्य प्रदर्शन के द्वारा चमत्कृत करती है। इस वर्ग का साहित्य कॉलरिज की इस काव्य परिभाषा का अनुवर्ती माना जाता है कि—"काव्य, सौन्दर्य के माध्यम से आनन्दप्रद मनोवेगों का ऊर्ध्वोच्छ्‌वास होता है।"[1] इस प्रकार यहाँ आनन्द को सौन्दर्य का अनुवर्ती माना जाता है। काव्य मे कल्पना पर आश्रित सौन्दर्य तत्त्व ही प्रमुख होता है। रस या आल्हाद इसी सौन्दर्य का अनुयायी है। इस प्रकार के साहित्य का सृजन कवि की उद्‌बुद्ध चेतना के विशिष्ट क्षणो मे अनुभूत सौन्दर्य (Aesthetic pleasure) के फलस्वरूप होता है। कवि की वैयक्तिक सौन्दर्यानुभूति ही इस साहित्य की उत्तरदायी है। यथार्थ जीवन का कोलाहल यहाँ नही होता और न समाज के उत्थान-पतन से इनका कोई अभिप्राय होता है। यहाँ साहित्यकार की कल्पना स्थूल प्रभावो से निरपेक्ष होती है।

इसके विपरीत एक दूसरे प्रकार का साहित्य भी रचा जाता है जो सामाजिक जीवन से प्रेरणा ग्रहण करता है। साहित्यकार समाज को सचालित करने वाली विविध शक्तियो के अध्ययन द्वारा उनके गुण-दोषो की आलोचना करता है और सामाजिक समस्याओ के समाधान का प्रयत्न करता है। सामाजिक वैषम्य को देखकर वह उद्विग्न हो उठता है और अपनी अनुभूति के माध्यम से उसे अभिव्यक्त करता है। उसकी अनुभूति समाज सापेक्ष होती है। यह साहित्य प्रगतिवादी विचारो से पूर्णतया प्रभावित होता है और आर्नाल्ड के अनुसार—"कला को जीवन की आलोचना" मानता है। किन्तु इस वर्ग की वे ही कृतियाँ

1 "Poetry is the excitement of emotion for the purpose of immediate pleasure through the medium of beauty"

साहित्यिक महत्व की हो सकती है जिनमे "प्रगतिशील सामाजिक प्रेरणाओ, स्वरूपो और प्रवृत्तियो को शाश्वत सौंदर्य-सवेदन का रूप दिया जाता है।"[1] इसके अभाव मे ये कृतियाँ प्रचारात्मक साहित्य मात्र रह जाती हैं। इस कोटि के साहित्य की सफलता के लिए साहित्यकार को सामाजिक जीवन और विचारो का यथार्थ अनुभूति का होना अनिवार्य है। समस्यानाटक इसी वर्ग के साहित्य का एक अग बनकर आता है।

आलोचना के विषय मे कोई एक निश्चित मापदण्ड न होने के कारण साहित्य के मूल्याकन मे कभी भी मतैक्य सम्भव नही। फिर भी प्रत्येक प्रकार के साहित्य मे कुछ ऐसी मूलभूत शक्ति होती है जिसके कारण वह रचना साहित्य कहलाने की अधिकारिणी होती है। देशकालानुरूप साहित्य के इन्ही मूलभूत तत्त्वो के आधार पर समस्यानाटको के साहित्यिक गुण-दोषो का परीक्षण किया जा सकता है। इस समीक्षा के पूर्व उन आरोपो पर विचार कर लेना चाहिए जो समस्यानाटको को हेय प्रमाणित करने के उद्देश्य से समय-समय पर उठते रहे है।

समस्यानाटक पर आक्षेप

हिन्दी समस्यानाटको का अनुशीलन करने पर उनके कतिपय वस्तुगत और शिल्पगत दोष स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। इन नाटको से सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था और प्राचीन आस्थाओ के प्रति विद्रोह की प्रवृत्ति आवश्यकता से अधिक उग्र हो जाती है। इस कारण चिन्तन मे अपेक्षित गहनता का अभाव ही रहता है। कहा जाता है कि इस दोष से हिन्दी समस्यानाटक का कोई भी लेखक मुक्त नही है। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने कुछ गहरे पैठकर समस्याओ की छान-बीन की है किन्तु विद्रोह की प्रवृत्ति अधिक उग्र होने के कारण स्थिर भाव से चिन्तन वे भी नही कर पाए हैं। अश्क के नाटको मे भी चिन्तन की अपेक्षित गम्भीरता नही मिलती। हाँ, समाज के स्थूल धरातल की समस्याओ को बडी कुशलता के साथ पकडकर यथेष्ट नाटकीय ढग से व्यक्त करने मे वे अवश्य समर्थ हुए हैं। इनके नाटको मे भी विद्रोह की प्रवृत्ति आवश्यकता से अधिक उग्र हो जाती है। सेठ गोविन्ददास के समस्यानाटको मे भी यत्किंचित विद्रोह तो है पर उनमे न तो यथेष्ट चिन्तन ही है और न नाटकीय कौशल। यही प्रवृत्ति भुवनेश्वर प्रसाद, गणेश प्रसाद द्विवेदी, भट्ट आदि के समस्या एकाकियो मे भी परिलक्षित होती है।

---

[1] नया साहित्य नए प्रश्न—आ० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १६

यह नाटक अपनी अत्यधिक उपयोगवादिता (Utilitarian), वैज्ञानिकता और कोलाहलपूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति के कारण रूक्ष और बोझिल प्रतीत होता है। समस्यानाटककार विषय के उपस्थापन मे वैज्ञानिक दृष्टि की अपेक्षा और विषय सकलन मे उपयोगिता का ध्यान रखता है। समस्यानाटककार की यह धारणा होती है कि इस वैज्ञानिक युग मे सत्य का उद्घाटन वैज्ञानिक ढग से करना ही नाटक का उद्देश्य होना चाहिए। वह यह मानकर चलता है कि आज का पाठक "साहित्य से भी सत्य की जानकारी और केवल सत्य की जानकारी की ही अपेक्षा रखता है।" वह वास्तविक और वैज्ञानिक सत्य चाहता है, कल्पना, भावना और आदर्श से उसे कोई मतलब नही। किन्तु इस वैज्ञानिकता से कला की सिद्धि नही हो सकती। वैज्ञानिक सत्य की जानकारी से हमारा कोई विरोध नही, विरोध इस बात मे है कि उसका वैज्ञानिक उद्घाटन ही साहित्य का सब कुछ नही। कृति का साहित्यिक महत्व तो इस बात मे है कि वह सत्य को अनुभवगम्य बना सके अर्थात् सहृदय सवेद्य कर सके। किन्तु समस्यानाटक के शैली-शिल्प मे इस गुण का पूर्ण समावेश नही हो पाता। इसका प्रधान कारण यह है कि विषयवस्तु के प्रतिपादन मे बौद्धिक विश्लेषण को तो स्थान दिया जाता है किन्तु भावना के स्पर्श की नितान्त अवहेलना की जाती है। इस प्रकार भावुकता के अभाव के कारण ये कलाकृतियाँ सर्वथा रसात्मक नही हो पाती। इसमे आनन्द तत्व का अभाव होता है और व्यस्त जीवन के कोलाहल के साथ उपयोगितावाद का हठात् समावेश होता है। इस प्रकार के तथ्य निरूपण करने वाली कृतियो का रूक्ष होना स्वाभाविक है।

समस्यानाटक का तीसरा दोष यह माना जाता है कि इसमे अन्त प्रकृति के सत्य की यथावत् अभिव्यक्ति के उत्साह में नग्नता अधिक उभर आती है और अभीष्ट 'कलात्मक प्रच्छन्नता'[1] (जो कला का एक प्रधान गुण है) का अभाव हो जाता है।

मनोविज्ञान के नाम पर निकृष्ट मनोवेगो की सृष्टि इतने नग्न रूप मे होने लगी है कि पाठक क्षुब्ध हो जाता है। कुण्ठा के प्रति जागरूक कर देने की यह उत्तेजना कही-कही अश्लीलता मे परिणत हो गई है। अन्तश्चेतनावादी यथार्थ का उन्मेष करते समय नाटककार कुण्ठा के कुप्रभाव तक ही सीमित न रहकर जब मर्यादा का बन्धन भी तोडने लगता है तब चित्र कुत्सित हो जाता है। यह दोष मिश्र जी के नाटको मे भी यत्र-तत्र परिलक्षित होता है।

---

1 'Art lies in concealment' Coleridge.

साहित्यिक महत्व की हो सकती है जिनमें "प्रगतिशील सामाजिक प्रेरणाओं, स्वरूपो और प्रवृत्तियो को शाश्वत सौदर्य-सवेदन का रूप दिया जाता है।"[1] इसके अभाव मे ये कृतियाँ प्रचारात्मक साहित्य मात्र रह जाती हैं। इस कोटि के साहित्य की सफलता के लिए साहित्यकार को सामाजिक जीवन और विचारो का यथार्थ अनुभूति का होना अनिवार्य है। समस्यानाटक इसी वर्ग के साहित्य का एक अग बनकर आता है।

आलोचना के विषय मे कोई एक निश्चित मापदण्ड न होने के कारण साहित्य के मूल्याकन मे कभी भी मतैक्य सम्भव नही। फिर भी प्रत्येक प्रकार के साहित्य मे कुछ ऐसी मूलभूत शक्ति होती है जिसके कारण वह रचना साहित्य कहलाने की अधिकारिणी होती है। देशकालानुरूप साहित्य के इन्ही मूलभूत तत्त्वो के आधार पर समस्यानाटको के साहित्यिक गुण-दोषो का परीक्षण किया जा सकता है। इस समीक्षा के पूर्व उन आरोपो पर विचार कर लेना चाहिए जो समस्यानाटको को हेय प्रमाणित करने के उद्देश्य से समय-समय पर उठते रहे हैं।

समस्यानाटक पर आक्षेप

हिन्दी समस्यानाटको का अनुशीलन करने पर उनके कतिपय वस्तुगत और शिल्पगत दोष स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। इन नाटको से सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था और प्राचीन आस्थाओ के प्रति विद्रोह की प्रवृत्ति आवश्यकता से अधिक उग्र हो जाती है। इस कारण चिन्तन मे अपेक्षित गहनता का अभाव ही रहता है। कहा जाता है कि इस दोष से हिन्दी समस्यानाटक का कोई भी लेखक मुक्त नही है। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने कुछ गहरे पैठकर समस्याओ की छान-बीन की है किन्तु विद्रोह की प्रवृत्ति अधिक उग्र होने के कारण स्थिर भाव से चिन्तन वे भी नही कर पाए हैं। अश्क के नाटकों मे भी चिन्तन की अपेक्षित गम्भीरता नही मिलती। हाँ, समाज के स्थूल धरातल की समस्याओ को बडी कुशलता के साथ पकडकर यथेष्ट नाटकीय ढग से व्यक्त करने मे वे अवश्य समर्थ हुए हैं। इनके नाटको मे भी विद्रोह की प्रवृत्ति आवश्यकता से अधिक उग्र हो जाती है। सेठ गोविन्ददास के समस्यानाटको मे भी यत्किंचित विद्रोह तो है पर उनमे न तो यथेष्ट चिन्तन ही है और न नाटकीय कौशल। यही प्रवृत्ति भुवनेश्वर प्रसाद, गणेश प्रसाद द्विवेदी, भट्ट आदि के समस्या एकाकियो मे भी परिलक्षित होती है।

---

१ नया साहित्य नए प्रश्न—आ० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १६

यह नाटक अपनी अत्यधिक उपयोगवादिता (Utilitarian), वैज्ञानिकता और कोलाहलपूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति के कारण रूक्ष और बोझिल प्रतीत होता है। समस्यानाटककार विषय के उपस्थापन मे वैज्ञानिक दृष्टि की अपेक्षा और विषय सकलन मे उपयोगिता का ध्यान रखता है। समस्यानाटककार की यह धारणा होती है कि इस वैज्ञानिक युग मे सत्य का उद्घाटन वैज्ञानिक ढग से करना ही नाटक का उद्देश्य होना चाहिए। वह यह मानकर चलता है कि आज का पाठक "साहित्य से भी सत्य की जानकारी और केवल सत्य की जानकारी की ही अपेक्षा रखता है।" वह वास्तविक और वैज्ञानिक सत्य चाहता है, कल्पना, भावना और आदर्श से उसे कोई मतलब नही। किन्तु इस वैज्ञानिकता से कला की सिद्धि नही हो सकती। वैज्ञानिक सत्य की जानकारी से हमारा कोई विरोध नही, विरोध इस बात मे है कि उसका वैज्ञानिक उद्घाटन ही साहित्य का सब कुछ नही। कृति का साहित्यिक महत्व तो इस बात मे है कि वह सत्य को अनुभवगम्य बना सके अर्थात् सहृदय सवेद्य कर सके। किन्तु समस्यानाटक के शैली-शिल्प मे इस गुण का पूर्ण समावेश नही हो पाता। इसका प्रधान कारण यह है कि विषयवस्तु के प्रतिपादन में बौद्धिक विश्लेषण को तो स्थान दिया जाता है किन्तु भावना के स्पर्श की नितान्त अवहेलना की जाती है। इस प्रकार भावुकता के अभाव के कारण ये कलाकृतियाँ सर्वथा रसात्मक नही हो पातीं। इसमे आनन्द तत्व का अभाव होता है और व्यस्त जीवन के कोलाहल के साथ उपयोगितावाद का हठात् समावेश होता है। इस प्रकार के तथ्य निरूपण करने वाली कृतियो का रूक्ष होना स्वाभाविक है।

समस्यानाटक का तीसरा दोष यह माना जाता है कि इसमे अन्त प्रकृति के सत्य की यथावत् अभिव्यक्ति के उत्साह मे नग्नता अधिक उभर आती है और अभीष्ट 'कलात्मक प्रच्छन्नता'[1] (जो कला का एक प्रधान गुण है) का अभाव हो जाता है।

मनोविज्ञान के नाम पर निकृष्ट मनोवेगो की सृष्टि इतने नग्न रूप मे होने लगी है कि पाठक क्षुब्ध हो जाता है। कुण्ठा के प्रति जागरूक कर देने की यह उत्तेजना कहीं-कही अश्लीलता मे परिणत हो गई है। अन्तश्चेतनावादी यथार्थ का उन्मेष करते समय नाटककार कुण्ठा के कुप्रभाव तक ही सीमित न रहकर जब मर्यादा का बन्धन भी तोडने लगता है तब चित्र कुत्सित हो जाता है। यह दोष मिश्र जी के नाटको मे भी यत्र-तत्र परिलक्षित होता है।

---

1 'Art lies in concealment' Coleridge.

चौथी बात यह है कि इसमे जीवन-सघर्ष को अत्यन्त सीमित क्षेत्र में ही देखा गया है। नाटककार—समस्यानाटको मे—जीवन की वास्तविकता को केवल तत्कालीन परिवेश और समाज के विरुद्ध किए गए सघर्ष मे ही देखता है। इस परिमित सीमा के बाहर उसकी दृष्टि सचरण नही कर पाती। अत इसकी प्रभविष्णुता भी सीमित होती है। यथार्थ को अत्यधिक विवरणात्मक चित्ररूप (Photographic) मे रखने के कारण समस्या की रेखाए (dimensions) तो स्पष्ट हो जाती है किन्तु उसकी प्रेषणीयता कम हो जाती है।

पाँचवाँ दोष यह माना जाता है कि समस्यानाटक मे सामान्य बातो का ही कथन होने के कारण साहित्यिक आस्वाद की अपेक्षाकृत न्यूनता रहती है। एक पाश्चात्य आलोचक कैण्डलर (Chandler) की यह धारणा है कि—"गद्य मे रचित इस नाटक मे गद्यमयी सामान्य मनोवृत्तियो का ही अभिव्यजन होता है, केवल तात्कालिक समाज की कुछ प्रेरक शक्तियों को अभिव्यक्त कर देना ही इस साहित्य का उद्देश्य होता है।" टी० एस० ईलियट के मतानुसार—"इस नाटक के कथोपकथन, क्रियाव्यापार, वस्तु-विन्यास आदि मे ध्वन्यात्मक अनुपात (Rhythm) का अभाव रहता है। उसमे केवल वाद-विवाद और बात-चीत ही होती है। जीवन का सूक्ष्म अन्वेषण यहाँ नही होता।"[२] डवल्यू० बी० यीट्स ने समस्यानाटक के साहित्य को छिछला, विवाद-प्रधान और सामान्य कहकर उस को हेय ठहराया है। इस प्रकार यीट्स, ईलियट आदि ने प्रतिक्रिया रूप मे अभिनव काव्य रूपको (Poetic Plays) का सृजन प्रारम्भ किया। भारतीय समाज मे आर्थिक अशान्ति, अन्ध-विश्वास, शासन-दुर्व्यवस्था आदि के कारण समस्यानाटको के विरुद्ध अभी प्रतिक्रिया सम्भव नही हो पाई है।

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि समस्यानाटक की आत्मा और अभिव्यक्ति दोनो गद्यमयी (Prosaic) है। इसमे सवेदन कम और उपयोगिता अधिक है। इसमे नाटकीय (Dramatic Impact) घात-प्रतिघात नही राजनीतिक, सामाजिक और आचार (Ethical) सम्बन्धी वाद-विवाद होता है। सामाजिक क्रान्ति की ओर विशेष ध्यान होने के कारण समस्यानाटक नाटककार के विचार-प्रचार का माध्यम बनकर रह जाता है। समस्यानाटक मे समसामयिक जीवन की विभीषिका, अभाव, निराशा और भौतिक द्वन्द्व के चित्र उपलब्ध होते है अत आमद तत्त्व का आभास मिलता है। यथातथ्य अभिव्यक्ति

होने के कारण नाटक सरस एव कलापूर्ण नही हो पाता ।

सामान्यत. उपरिलिखित दोष इतने प्रबल प्रतीत होते हैं कि समस्यानाटक को ललित साहित्य की सीमा से बहिष्कृत करने के लिए पर्याप्त हैं । किन्तु ध्यानपूर्वक देखा जाय तो समस्यानाटक का एक दूसरा उज्ज्वल पक्ष भी है । नाटक पाठ्य ही नही प्रेक्ष्य भी होता है । अत उस पक्ष को सम्मुख रखकर भी हमे इसके गुण-दोषो पर विचार करना होगा ।

समस्यानाटक और रगमंच

रगमच नाट्य-साहित्य का उपादान होता है जिसकी सहायता से नाटककार अपने भावो को अभिव्यक्त करता है । इस प्रकार की भावाभिव्यक्ति मे अन्य साहित्यिक विधाओ की अपेक्षा अपनी एक विशिष्टता होती है । नाटक के अतिरिक्त साहित्य की अन्य सभी विधाओ मे भावचित्र को काल्पनिक नेत्रों के सम्मुख रखकर ही प्रमाता कृति का आस्वाद ले सकता है । किन्तु नाटक को रगमच पर अभिनीत देखते हुए प्रमाता के मन मे भाव सत्वर-सवेद्य हो उठता है और रसास्वाद सुलभ होता है । मात्र उच्चारण की भाषा द्वारा भाव सम्यक् व्यक्त नही किया जा सकता, क्योकि मात्र भाषा सम्यक् भाव-व्यक्त करने के पक्ष मे असम्पूर्ण और अक्षम्य है । भाषा के सहित इगित और भगिमा का सायुज्य उसकी पूर्णता का प्रेरक है इसीलिए दृश्य-नाटक तथा रगमच का महत्व विशेष है ।

समस्यानाटक के साथ इस रगमच का निकट सम्बन्ध है । जगह-जगह कॉलेजो, स्कूलो और विकसित नगरो मे शौकिया रगमच की स्थापना ने नाटको में अभूतपूर्व परिवर्तन कर दिया है । इन रगशालाओ के अभिनेतागण और प्रेक्षक सभी शिक्षित नवयुवक व्यक्ति होते हैं । इसका प्रभाव यह पडा कि प्रगतिशील विचार-प्रधान नाटको की अधिक प्रशसा की जाने लगी और इसकी माँग बढी । इसके कारण भी हिन्दी समस्यानाटक को पनपने के लिए अनुकूल वातावरण मिला । नाटककार पाठक को नही, सुशिक्षित प्रेक्षक को दृष्टि मे रखकर रचना करने के लिए बाध्य हुआ । उदयशकर भट्ट नाटक के सम्बन्ध मे आज के हिन्दी जगत् की मनोवृत्ति का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—"आज स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी-नाटक की माँग बढ रही है । लोग नाटक पढने की अपेक्षा नाटक देखना पसन्द करने लगे हैं ।"[1] अतएव अभिनय के लिए लिखे जाने के कारण नाटक प्रेक्ष्यगुण प्रधान हो गया और शिक्षित प्रेक्षक को प्रभावित करने

१. 'नया समाज', पृ० ७

के लिए अधिक वैज्ञानिक ।

रगमच की इस आवश्यकता के कारण नाटक के आकार मे सक्षिप्तता, कथानक के प्रकार मे सामाजिकता, वस्तु-सघटन मे वैज्ञानिकता, पात्रो के सलाप मे यथार्थता और अभिनय कला मे मनोवैज्ञानिक आधार ग्रहण किया जाने लगा ।

समय के साथ-साथ लोगो के नाट्यकला-सम्बन्धी विचार भी बदलने गए । पाश्चात्य नाटककार इब्सन, बर्नार्डशा आदि के नाटको से, हिन्दी रगमच भी प्रभावित हुआ । उसी प्रभाव ने कलाकारो की दृष्टि नई सृष्टि की ओर प्रवृत्त की । नाटकीय प्रदर्शनो को यथासम्भव वास्तविक जीवन के निकट ला रखने की प्रेरणा दी । साथ ही चार-पाच घटे मे भी न अभिनीत हो सकने वाले प्रसाद के नाटको की लोकप्रियता भी क्षीण हुई । अभिनेय विषय पुराण व इतिहास के ग्रन्थो से न लिए जाकर वास्तविक वर्तमान जीवन के साँचे मे ही ढलने लगे । इन्ही सब परिवर्तनो के अनुरूप रगमच-सम्बन्धी नव-निर्माण की भी आवश्यकता लोग महसूस करते हैं । वास्तविक घटनाओ के मेल मे ठीक-ठीक बैठने वाले दृश्यो का विधान ही अधिकतर वर्तमान हिन्दी-नाटको मे पाया जाता है । नाटक रचना भी इस प्रकार होने लगी है कि अनेक दृश्य विधान से पिंड छुडाया जाने लगा है । कम से कम दृश्य-परिवर्तन के साथ नाटक सम्पन्न हो—इसकी ओर वर्तमान नाटककारो तथा अभिनेताओ का विशेष ध्यान जा रहा है । नाटकीय-घटनाओ की पृष्ठभूमि, वातावरण तथा पात्रो के वेश-विन्यास आदि मे स्वाभाविकता लाने के लिए हर प्रकार से प्रयत्न किए जा रहे हैं । रगमच पर एक या दो ही दृश्यो का विधान किया जाता है और उन्ही कतिपय दृश्यो के प्रकाश मे समूचा नाटक सफलता के साथ खेला जाता है ।

नाट्य-कला के इन परिवर्तनो के अनुरूप ही शौकिया (Amateur) रगमच की स्थापना की गयी है ।

समस्यानाटक और अभिनेयता

समस्यानाटककार की अभिनय सम्बन्धी समस्याएँ प्राचीन नाटककारो से भिन्न होती हैं । वह कौतूहल से परिपूर्ण नाटकीय स्थितियो की अवतारणा कर देना ही अभिनय के लिए आवश्यक नही मानता । उसकी अभिनयगत मान्यताओ पर यथार्थवाद का विशेष प्रभाव पडा है । दैनिक जीवन की समस्याओ को, स्वाभाविकता के साथ, विश्वसनीय एव प्रभावकारी शैली मे किस प्रकार रगमच पर उपस्थित किया जाय, यही इनकी अभिनय कला का रहस्य है । रगमच को

व्यर्थ के अस्वाभाविक आडम्बरो से चकाचौंध करना उन्हे अभीष्ट नही। उनकी धारणा है कि कृत्रिम युक्तियो द्वारा प्रेक्षक का मनोविनोद ही हो सकता है—युग-जीवन का वास्तविक रूप सवेद्य नही हो पाता। इसीलिए इन्होंने कायिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक आदि अभिनय के अवयवो को अधिक साकेतिक, व्यग्यात्मक और मनोविज्ञान-पुष्ट बनाया। इस प्रकार इनके नाटको का अभिनय कौतूहलवर्द्धक भले ही न हो पर हृदय को स्पर्श अवश्य करता है। यदि नाटककार जागरूक हुआ तो दैनिक जीवन की रूक्षता को रगमच पर प्रभावशाली ढग से उपस्थित कर सकता है। विज्ञान के बल पर विकसित रगमच ने इस सभावना के लिए क्षेत्र खोल दिया है। प० लक्ष्मीनारायण मिश्र नूतन अभिनय कला पर प्रकाश डालते हुए लिखते है कि—"अभिनय के सम्बन्ध मे भी मैं स्वाभाविकता पर बल देना चाहता हूँ। तोते की तरह रटे रटाये शब्दो को रगमच पर दुहरा देना ठीक नहीं होता। मुँह से जो शब्द निकलें उनके साथ ही साथ शरीर के अगो का सचालन भी ऐसा होना चाहिए कि जो आपस मे सामजस्य स्थापित कर सके—रगमच पर मनुष्य की स्वाभाविक जिन्दगी दिखला दें अथवा हमारा नित्य का जीवन जैसा है रगमच का जीवन उसके साथ मेल खा सके।"[1]

पात्रो की भीतरी भावनाओ को व्यक्त करने मे जितना सहायक मूक अभिनय होता है उतना स्वगत नही। मनुष्य के भीतरी भाव एकान्त मे भी उसकी भाव-भगी, चेहरे की आकृति या कभी-कभी किसी तरह का काम कर देने मे व्यक्त होते हैं, चारपाई पर लेटकर या खडे होकर व्याख्यान देने मे नही। दो हिस्सा स्वगत और एक हिस्सा वास्तविक कथोपकथन करा देने से नाटक का लिखना तो सरल हो उठता है, पर नाटकत्व बिगड जाता है, अभिनय की जरूरत नहीं रहती।

निष्कर्ष यह कि समस्यानाटक का कार्यव्यापार अधिक मनोवैज्ञानिक, सघर्ष स्वाभाविक (प्रेक्षक के निजी जीवन के सघर्ष के अनुरूप होने के कारण उसे आत्मीयता का अनुभव होता है) सलाप अकृत्रिम (प्रेक्ष्य नाटक का दर्शक पात्र की स्वाभाविक भाषा मे तीर की तरह चुभने वाले टूटे-फूटे और छोटे-छोटे वाक्यों को सुनना चाहता है, वह लम्बी वक्तृता के पूर्वापर प्रसग को स्मरण रखने का भार उठाना नही चाहता।) होता है।

प्रेक्ष्य नाटक और पाठ्य नाटक का अन्तर स्पष्ट करते हुए प्रो० वियर्स ने

---

१ 'मुक्ति का रहस्य', पृष्ठ ७५

भी लिखा है —"प्रेक्ष्य नाटक मे अलकृत वर्णन, गभीर विचारानुभूति व्यजक पदो, शिथिल वस्तु-विकास और निरुद्देश्य लम्बी-चौडी वक्तृताओ का वहिष्कार किया जाना चाहिए। किन्तु, पाठ्य नाटको मे इनका उपयोग हो सकता है।"[1]

अभिनय के प्रभाव को अधिक सश्लिष्ट वनाने के लिए नाटककार सकलन-त्रय (काल सकलन, स्थान सकलन और क्रिया सकलन) का पूर्ण निर्वाह करता है। दृश्यो की अवतारणा मे समस्या की प्रकृति, परिस्थिति और पात्र का ध्यान रखता है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के नाटको मे भी रगमच के अनुकूल अभिनेय तत्वो का पूरा निर्वाह हुआ है। शिल्प की दृष्टि से सामाजिक समस्याओ पर लिखे गये वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा और सेठ गोविन्ददास के भी कतिपय नाटक सफल हैं। इनमे प्रभावित करने वाली अभिनेयता है। समस्या एकाकियो की अभिनेयता तो असदिग्ध ही है। शायद ही कोई ऐसा नाटक होगा जिसका अभिनय न हो सके। प० लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटको की रगमचीय सफलता सदिग्ध है, इसका कारण विश्लेषण की प्रवृत्ति का अत्यधिक आग्रह है। वे आन्तरिक सघर्ष को इतना प्रधान वना देते हैं कि वाह्य सघर्ष सर्वथा उपेक्षित-सा रह जाता है। इस कारण कार्यव्यापार मे शिथिलता और नाटकीय गति का अभाव खटकता है।

इस प्रकार शिल्प की सरलता, स्वाभाविकता, अभिनय की मनोवैज्ञानिकता, प्रत्यक्ष जीवन की अनुभूतिपूर्ण वास्तविकता, युग की यथार्थोन्मुखी प्रवृत्ति के अनुरूप होने के कारण समस्यानाटक के साहित्यिक महत्त्व की नितान्त उपेक्षा कभी नही की जा सकती। चाहे युग वदल जाय और ये समस्याएँ भी तिरोहित हो जायें किन्तु भौतिक और सामाजिक जीवन का जो एक स्पन्दन है वह शाश्वत सवेद्य होकर सहृदय को आकर्षित करता रहेगा। यह भी नही कहा जा सकता कि वौद्धिकता की रूक्ष वेदी पर इन नाटककारो ने भावुकता का एकदम वलि-दान ही कर दिया है। डॉ० नगेन्द्र का तो यह दृढ मत है कि—"आप सच मानिए इनमे कोई भी लेखक ऐसा नही जो रोमास और भावुकता का आँचल छोड सका हो। पश्चिमी विद्वानो की तो ऐसी धारणा इब्सन और शॉ तक के

1 "It (Closet Play) may afford', he reasons, "What the acted play must forgo on ornate descriptions, passages of deep reflection, a lagging movement, and mere declamation"

विषय मे है।"[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो मे वस्तुत "भावुकता भी जीवन का एक अग है अत साहित्य की किसी शाखा से हम उसे बिलकुल तो हटा सकते ही नही। हा, यदि वह व्याधि के रूप मे—पील-पाव की तरह बढने लगे तो उसकी रोक-थाम आवश्यक है।" समस्यानाटक इसी रोक-थाम का उत्साह लेकर चला है। इस साहित्य-शाखा का दोष यही है कि बुद्धि और हृदय के सत्य का सामजस्य नही हो सका है। हृदय की अपेक्षा बुद्धि को अधिक महत्व मिला है। किन्तु, यह तो युग की ही विशेषता है कि व्यक्ति आज चिन्तक अधिक और भावुक कम है।

अपनी इसी अभिनेयता के कारण समस्यानाटक सत्वर सवेद्य होता है। किन्तु साहित्यिक स्थायित्व प्राप्त करने के लिए कृति मे शाश्वत सवेदन तत्व का होना भी अनिवार्य होता है। अब विचारणीय विषय यह है कि समस्यानाटक मे साहित्यिक दृष्टि से स्थायित्व प्रदान करने वाले शाश्वत-सवेदन तत्व क्या हैं।

यह तो स्पष्ट है कि समस्यानाटक की रचना दो रूपो मे हुई है—एक मे समाज और परिवेश से सघर्ष करने वाले व्यक्ति की मानसिक ग्रन्थियो का उद्घाटन हुआ है तो दूसरे मे समाज को विकृत करने वाली स्थूल समस्याओ का दिग्दर्शन कराया गया है। जहाँ तक पहले वर्ग की समस्याओ का सम्बन्ध है उनमे शाश्वत-सवेदन तत्व प्रचुर मात्रा मे विद्यमान होते हैं। सभी देश और सभी काल के मनुष्य परिस्थितियो के प्रतिकूल होने पर मानसिक ग्रथियो से ग्रस्त होते हैं। इन समस्यानाटको मे ग्रन्थिजनित विकारो का, उपचेतन के छलो का जो साकार चित्रण हुआ है उसमे सवेदनशीलता है। अनुकूल प्रभाव की सृष्टि के लिए इन नाटककारो ने कायिक (gestures) वाचिक (words) आहार्य (Dresses and make-up) और सात्विक (Temperamental) चारो प्रकार के अभिनय का आश्रय लिया है। उनकी अभिनय योजना मे रूढि के स्थान पर मनोवैज्ञानिक तत्वो का समावेश होता है। पात्रो की अर्द्धोक्तिया चिन्तन के क्षणो मे मूक भाव से दृष्टिपात आदि निर्देश प्राचीन नाटको की बाहरी दौड-धूप और उच्छ्वसित स्वगतोक्तियो से कही अधिक हृदयस्पर्शी होते हैं। इस प्रकार की नाटकीय कला मे साकेतिकता और प्रभविष्णुता की गहराई होती है जिसका विशद विवेचन शिल्प-विधि का विवेचन करते समय किया जायगा। लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशकर भट्ट के समस्यानाटको मे यह

---

१ आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० ५४

शाश्वत सवेदन तत्व बहुत कुछ विद्यमान है।

समाज की स्थूल समस्याओ को आधार बनाकर लिखे गए समस्यानाटक भी साहित्य की दृष्टि से सर्वथा उपेक्षणीय नही हो सकते। उनमे भी उस शाश्वत सवेदन की सभावना निहित है जो मानव प्रकृति की उस मनोवृत्ति का साहित्य है जिसमे सामाजिक सघर्षों के प्रति आसक्ति होती है। यह सामाजिक भावना देश-काल विशेष तक ही सीमित नही होती प्रत्युत किसी भी देश-काल का वर्ग-सघर्ष हमे आकृष्ट कर सकता है। वर्ग-सघर्ष की प्रकृति और स्वरूप मे भेद हो सकता है मूल भावना मे नहीं। अत यह कहना ठीक नही कि समसामयिक समस्या को ही अभिव्यक्त करने वाला समस्या नाटक कालान्तर मे महत्त्व शून्य हो जायगा। किन्तु, इसके लिए यह आवश्यक है कि समस्याओ को अस्तित्व देने वाली चेतना की नाटककार को सूक्ष्म पकड हो। सूक्ष्म भाव या मनोविकार का सश्लिष्ट चित्रण प्रस्तुत करने वाले समस्यानाटक का शाश्वत महत्व है। यदि इस चेतना का उन्मेष न कर नाटककार केवल समस्या का निरूपण करता रहा तो वह सफल नाटक का सृजन नही कर पायेगा। क्योकि समस्यायें युग बदलने पर स्वय बदल जाती हैं। समस्या नाट्यकार की मानव जीवन और मानव चरित्र की गहरी रुचि उसकी कृति को साहित्य का रूप देती है।[1]—

His interest in life and human character raised his work above the level of a sociological treatise or an abstract philosophical discourse

समस्याओ के परिवर्त्तित होने पर भी समस्यानाटक पठनीय या दर्शनीय रहेगे। कारण यह है कि मानव के जीवन की अनुभूति का इतिहास सदा नया बना रहता है। और जब तक हृदय की अनुभूति के इतिहास का महत्त्व नष्ट नही होता तब तक इन समस्यानाटको की प्रभविष्णुता बनी रहेगी। एक आलोचक का मत है[2]—

Problem drama like all great drama, is a precious 'human document', the problem tackled by it may be solved and the conditions portrayed by it may change, but it is likely to retain its appeal as long as men are interested in human experience

---

1 Dr R C Gupta—The Problem Play (Preface)

2 Dr R C Gupta—The Problem Play (Preface)

प्रसाद के नाटकों की अभिनेयता

प्रमाद के नाटको का अभिनय की दृष्टि से परीक्षण करने के लिए निम्न लिखित तीन प्रश्नो पर विचार कर लेना आवश्यक है—

१ अभिनय का लक्षण क्या है ?

२ अभिनय तत्त्व का क्या अभिप्राय है ?

३. अभिनेय नाटक की क्या विशेषताएँ हैं ?

सर्वप्रथम अभिनय के लक्षण पर विचार कर लेना चाहिए। भरत-नाट्यशास्त्र के अनुसार 'णीञ् धातु मे 'अभि' उपसर्ग लगाने से अभिनय शब्द वना है। णीञ् का अर्थ है पाना, ले जाना 'णीञ् प्रापणार्थोधातु'।

"अस्याच्प्रत्ययान्तस्याभिनय इति रूप सिद्धम्"
अभिपूर्वस्तु णीञ् धातुराभिमुख्यार्थ निर्णये ।
यस्मात्प्रयोग नयति तस्मादभिनय स्मृत ॥
विभावयति यस्माच्च नानार्थान्हि प्रयोगत ।
शाखांगोपागसयुक्तस्तस्मादभिनय स्मृत ॥ ना० शा० ८।६-७ ॥

अभिनय शब्द का अर्थ है सम्मुख ले जाना।

नाटक के प्रयोग मे शाखा[1], अग[2] और उपाग[3] के सहित जो प्रक्रिया कवि के आशय को सामाजिक के सम्मुख रखती है उसे अभिनय कहते हैं और उस कला को जानने वाला अभिनेता कहलाता है।

इस लक्षण से यह तात्पर्य निकला कि कवि-अभिप्राय को सामाजिक तक पहुँचाना अभिनेता का कर्तव्य है, अर्थात् यदि कवि का आशय अभिनेता सामाजिक तक नही पहुँच पाता तो इसमे दोष कवि का नही अभिनेता या उसकी अभिनय-कला का है। सफल अभिनेता किसी भी नाटक को अभिनेय बना सकता है।

---

१ अत्र शाखेति विख्याता विचित्रा करवर्त्तना। (शारगदेव) अर्थात् भाषण के पूर्व या कथोपकथन के समय पात्र का करवर्त्तन (विभिन्न रूपों में स्पन्दन) शाखा कहलाता है।

२ सिर, हाथ, वक्ष, पार्श्व, कटि और पग के स्पदन द्वारा पात्र की भावाभिव्यक्ति।

३ नेत्र, भ्रू, पलक, नासिका, ओष्ठ और चिबुक द्वारा भावाभिव्यक्ति।

ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर मे किन्हीं कारणो से आचार्यों को इस लक्षण से सन्तोष नही हुआ और भट्टतोत को एक नई परिभाषा करनी पडी। उन्होंने अभिनय का लक्षण इस प्रकार लिखा। भट्टतोत आचार्य ने अभिनय की व्युत्पत्ति बताते हुए लिखा है—

"अभिशब्देनाभिमुख्य न शब्देन निषेध य शब्देन यदर्थो लक्ष्यते। तेन स्वपार्श्वोन्मुखदेशागमनेन आभिमुख्य अभिमुखत्वम्। पार्श्वक्षेत्रेतु रेचनपूर्वं अधोमुखोत्तानपरिवर्त्तनेन च यच्छब्दार्थमभिनयेत्।"

अर्थात् जो कला सामाजिक का ध्यान अन्य विषयो से हटाकर रगमच पर होने वाले दृश्य की ओर निरन्तर लगाए रखे वह अभिनय कला है, अर्थात् जिस नाट्य-रचना मे इतनी सामर्थ्य हो कि कुशल अभिनेता सामाजिको का ध्यान निरन्तर अपनी ओर आकर्षित कर सके वह अभिनेय कहलाने की अधिकारिणी है। इस प्रकार का लक्षण आचार्य विप्रदास ने दूसरी परिभाषा में किया है। उनका मत है—

रत्यादिकानभिव्यक्ति नयतो वासनामयान्।
रसावसाना व्यापारा कथ्यन्तेऽभिनया इति॥
आगिका वाचिकाश्चैव आहार्या[1] सात्विका इति।
चतुर्विधास्ते करणैश्चतुर्भिरुपपादनात्॥

अभिनय कला का विवेचन करते हुए नाटक के प्रयोग का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। नृत्य-गीत के साथ आगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक चार प्रकार के अभिनय का विधिवत् विश्लेषण मिलता है। शिर प्रभृति अगों का प्रक्षेपण आगिक अभिनय, गीत-प्रबन्धादि का वर्णन वाचिक अभिनय, भूषणादि धारण आहार्य अभिनय और स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्चादि सात्विक भावो का प्रदर्शन सात्विक अभिनय कहलाता है।

इन आचार्यो के मत से जिन नाटको मे चतुर्विध अभिनय के लिए ऐसे साधन हो जो आद्योपात सामाजिक को आकर्षित कर सकें, वे अभिनेय नाटक कहे जाएँगे। अब प्रश्न सामाजिक की रुचि का उठता है। समाज मे विद्वान् और मूर्ख, महात्मा और कामुक सभी प्रकार के मानव हैं। सबकी पृथक्-पृथक् रुचि है। अत कोई नाटक विरुद्ध रुचि वाले व्यक्तियो को किस प्रकार प्रिय हो सकता है, हम इस प्रश्न पर आगे चलकर विचार करेंगे।

---

१ भा० द०, अध्याय ६, श्लोक २११ के उपरात।

संस्कृत नाटकों की अभिनेयता

हमारे देश मे एक समय नाटक का प्रचार निम्नस्तर के व्यक्तियो के शिक्षार्थ पचम वेद के रूप मे हुआ। उस समय भरत[1] मुनि ने सफल नाटक का लक्षण देते हुए लिखा—

मृदुललितपदाढ्यंगूढशब्दार्थहीन
जनपदसुखवोघ्य युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
वहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
भवति जगति योग्यं नाटक प्रेक्षकाणाम्॥

भरत मुनि की दृष्टि मे (जनपद सुखवोघ्य) सामान्य जनता के समझने योग्य सरल शब्दो मे नृत्य पर आधारित रसयुक्त नाटक अभिनेय था। भास के नाटको मे ये गुण किसी सीमा तक विद्यमान हैं। किन्तु कालान्तर मे अभिनेय नाटको का एक और नया स्वरूप वन गया।

आचार्य विश्वनाथ 'साहित्य-दर्पण' मे सफल अभिनेय नाटक के लक्षण देते हुए लिखते हैं—

पचसन्धि चतुर्वृत्ति चतु. षष्ठ्यगसंयुतम्।
षट्त्रिशल्लक्षणोपेतमलकारोपशोभितम्॥
महारसं महाभोगमुदात्तरचनान्वितम्।
महापुरुषसत्कारं साध्वाचार जनप्रियम्॥
सुश्लिष्टसधियोग च सुप्रयोग सुखाश्रयम्।
मृदुशब्दाभिघान च कवि. कुर्यात्तु नाटकम्॥

अर्थात् पाँच सधियो से, चार वृत्तियो से, चौसठ अङ्गो से, छत्तीस लक्षणो से युक्त, नाट्यालङ्कारो से सुशोभित, अतिसरस, उत्कृष्ट भावो से युक्त, चमत्कारपूर्ण रचना से पूरित, महापुरुषो के सत्कार से सम्पन्न, अनिन्दित आचरण से सयुक्त, सधियो मे सुश्लिष्ट, प्रयोग मे रमणीय, सुख का आश्रय और कोमल शब्दो से समन्वित नाटक कवि को वनाना चाहिए।

अभिनेयता भरत मुनि और विश्वनाथ दोनो को वाछनीय है, पर अभिनेयता के स्वरूप मे अन्तर दिखाई पडता है। एक की दृष्टि सामान्य जनसमुदाय को भी वोधगम्य होने वाले नाटको की ओर है, दूसरे की विद्वत्परिषद् मे अभिनीत नाटको की ओर। एक के सामने समाज का निम्न वर्ग भी है जिसके लिए पचम

१. नाट्य भिन्नरुचेर्जनस्य वहुधाप्येकं समाराधनम्—कालिदास

वेद की आवश्यकता थी, दूसरे की दृष्टि में 'अभिरूप भूयिष्ठा परिषदियम्'। कालिदास तक आते-आते नाट्यकला का एक विशिष्ट रूप राजाश्रित नाट्य-शाला मे निखरने लगा। इसके पूर्व ऐसे नाटको का निर्माण हो चुका था जो राजपुरुषो के मध्य अभिनीत होते थे। प्राचीन इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि राज-भवन मे निर्मित नाट्य-शाला का द्वार केवल राजपुरुषो और विद्वानो के लिए खुलता था। सामान्य जनता का प्रवेश वहाँ वर्जित था। ऐसी नाट्य-शाला मे 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशी' और 'शकुन्तला' नाटक अभिनीत हुए। इन नाटको के अन्तर्गत निम्नलिखित उद्धरणो पर ध्यान देने से यह तथ्य स्वत प्रमाणित हो जाता है—

मालविकाग्निमित्रे—

सूत्रधार—अभिहितोस्मि विद्वत्परिषदा कालिदास ग्रथित-वस्तु मालविकाग्निमित्र नाम नाटकमस्मिन्वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति।

विक्रमोर्वशीयम्—

सूत्रधार—मारिष ब्रहुशस्तु परिषदा पूर्वेषा कवीना दृष्ट प्रयोगवन्ध सोऽहमद्य विक्रमोर्वशीय नाम नाटकमपूर्व प्रयोक्ष्ये।

अभिज्ञान शाकुन्तले—

"आर्ये! अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम्। अद्य खलु कालिदास ग्रथित वस्तुनाभिज्ञान शाकुन्तल नामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभि।"

इन तीनो नाटको मे सूत्रधार विद्वत्परिषद् की ओर सकेत करता है। राजप्रासाद मे वसन्तोत्सव पर अभिनीत नाटको के दर्शक निस्सदेह रूप से योग्य एव विद्वान् राजन्य वर रहे होंगे। सामान्य जनता का प्रवेश वहाँ कहाँ?

नाट्य-शाला

प्रसगवशात् अभिनेय नाटको के लिए निर्मित नाट्य-शाला-पद्धति पर विचार कर लेना चाहिए। जन-जीवन की स्वाभाविक प्रेरणा का परिणाम होने के कारण नाटक केवल राजभवनो तक ही सीमित न रहा, मध्यमवर्ग और निम्न वर्ग ने अपनी रुचि के अनुरूप अभिनय के उपकरण एकत्र किये। अत एक ओर तो देव-मन्दिरो, गुफाओ और सामूहिक रूप मे बनी नाट्य-शालाओ मे रास, यात्रा आदि नाटको का विकास हुआ और दूसरी ओर गेय-लोक नाट्य-जनमनरजन करता रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि आचार्यों को रूपक के अतिरिक्त १८ प्रकार के उपरूपको को भी स्वीकार करना पडा।

विद्वत्परिषद् मे अभिनीत नाटको के आधार पर नाट्य-रचना के विविध अगो का विवेचन आचार्यों ने किया। भरत मुनि ने नाटक मे केवल ३६ अगो का वर्णन किया था, किन्तु भोज तक आते-आते उनकी सख्या २५६ पहुँच गई। हमारे सबसे समृद्ध और पूर्ण नाटक इन्ही विद्वत्परिषदो मे अभिनीत हुए। विश्व-विख्यात 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' की रचना इसी विद्वत्परिषद् के लिए हुई थी।

सस्कृत और प्राकृत की उपर्युक्त तीनो पद्धतियाँ हिन्दी मे आईं। सस्कृत के समान हिन्दी मे भी एक का दूसरे पर प्रभाव पडता रहा। अत भारतेन्दु-युग मे इन तीनो पद्धतियो का विकास झलकता है।

प्रसाद के विभिन्न नाटको में अभिनेय तत्त्व

प्रसादजी का जन्म भारतेन्दु की नगरी मे भारतेन्दु-युग मे हुआ। हरिश्चन्द्र की धवल कीर्ति का प्रकाश 'प्रसाद' के बाल्यकाल मे पूर्ण वैभव पर था। 'प्रसाद' के परिवार का भारतेन्दु के वशजो से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण बालक प्रसाद के कोमल मन पर उस वैभव का प्रभाव पडना स्वाभाविक था। भारतेन्दु प्रवर्तित 'हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान' मिशन के सचालको के सम्पर्क मे आने से तीनो के प्रति अनुराग होना अनिवार्य था।

सज्जन—नाटक के लिए लेखनी उठाते ही प्रसाद ने भारतेन्दु को स्मरण किया होगा। उन्होंने भारतेन्दु की एक शैली पर 'सज्जन' की रचना की। 'नान्दी', 'सूत्रधार', 'भरत वाक्य', 'गद्य' और 'पद्य' की भाषा मे क्रमश खडी बोली और ब्रजभाषा सबका यथोचित निर्वाह हिन्दुओ की दुर्बलता—ईर्ष्या, मात्सर्य, हिन्दुस्तान का मेवा फूट, सबकी यथोचित अभिव्यक्ति इस नाटक की विशेषता है। काव्य-गुण, अभिनेय तत्त्व और लघुता के कारण यह अभिनेय नाटक उस काल के मध्यम वर्ग की रुचि के अनुरूप ही बना। यदि 'प्रसाद' इसी शैली का अनुसरण करते गए होते तो उनके नाटको की शैली वह न होती जो 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' आदि मे दिखाई देती है। ज्यो-ज्यो उनके विचारों मे प्रौढता आती गई वे एक नई शैली के अनुसन्धान मे सलग्न होते गए। 'प्रसाद' के जीवन पर सबसे अधिक प्रभाव डालने वाली घटना सारनाथ के भग्नावशेषो का पुनरुद्धार था। पुरातत्त्ववेत्ताओ के प्रयास से भारत के अतीत वैभव का एक अश प्रकाश मे आते ही 'प्रसाद' को एक निधि मिल गई। उन्हे ऐसा प्रतीत होने लगा है कि हमारी जाति मे स्वभावत ऐसे गुण हैं जिनके द्वारा देश और जाति का उद्धार हो सकता है। उस समय उन्हें इतिहास के अध्ययन का महत्त्व सूझा और पूर्वजो की जिन त्रुटियो के कारण देश परतन्त्र बना था

उनकी ओर उनका ध्यान गया और उन्होने 'प्रायश्चित्त' नाटक द्वारा जयचन्द के अपराधो का परिहार कराना उचित समझा। 'प्रायश्चित्त' नाटक इस बात का प्रमाण है। जयचन्द अपने कुकृत्यो पर इतना लज्जित होता है कि सेनापतियो और मन्त्रियो को शहाबुद्दीन से युद्ध करने का परामर्श देकर वह स्वत. गगा मे डूब मरता है।

प्रायश्चित्त—'प्रायश्चित्त' मे भी अभिनेयता का ध्यान रखा गया, किन्तु नान्दी सूत्रधार की शैली का परित्याग किया गया। इस नाटक मे सक्षिप्त एव रुचिकारी सवाद-योजना, घटना-कौतूहल तथा भाषा-सारल्य के कारण अभिनेय गुण सुविधापूर्वक आ गए हैं।

'प्रायश्चित्त' के उपरान्त 'प्रसाद' ने कथावस्तु-सविधान मे कई परिवर्तन किये। उन परिवर्तनो मे कथा की ऋजुता के अतिरिक्त सबसे बडा परिवर्तन है मुस्लिम-सघर्ष के त्याग का। एक बार मैंने उनका ध्यान मुस्लिम युग के इतिहास की ओर आकर्षित किया। मैंने कहा कि टाड राजस्थान की प्रचुर सामग्री से आप लाभ क्यो नही उठाते ? उन्होंने कहा कि हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की देश को सबसे अधिक आवश्यकता है। मुस्लिम-युग की सामग्री अधिकाश विद्वेषसूचक है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनके हृदय मे राष्ट्रीय भावना का क्या स्वरूप था।

'प्रसाद' की हार्दिक इच्छा यह अवश्य रहती थी कि उनके नाटको का स्थान-स्थान पर अभिनय हो और भारतेन्दु मिशन की पूर्ति में वे कुछ योग दे सकें। अत आरम्भ मे उन्होने इन नाटको मे मध्यम वर्ग के समझने योग्य विषयो को ग्रहण किया और रचना मे मध्यवर्ग की रुचि का ध्यान रखा।

करुणालय—अभिनय की दृष्टि से उन्होंने एक और नया प्रयोग किया। दर्शको को चमत्कारपूर्ण कथानक एव मधुर सगीत का अधिक आकर्षण रहता है। 'प्रसाद' ने इन दोनो तत्त्वो का विशेष ध्यान रखकर 'करुणालय' की रचना की। उनकी धारणा थी कि सम्भवत गद्य-पद्य का भेद मिट जाने और गेय बन जाने के कारण मध्य-वर्ग को यह शैली रुचिकर प्रतीत होगी। किन्तु किसी रगमच पर इसका प्रयोग नही किया गया और उन्होने इस शैली को भी त्याग दिया।

करुणालय के उपरान्त 'कल्याणी-परिणय' और 'राज्यश्री' की रचना हुई। 'कल्याणी-परिणय' और 'राज्यश्री' के प्रथम सस्करण मे घटनाक्रम एव भाषा-शैली का निरीक्षण करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने इन दोनो मे काव्य-तत्त्व, चरित्र-चित्रण और जीवन-दर्शन की अपेक्षा सुबोध अभिनय-तत्त्व

को अधिक महत्त्व देना उचित समझा। दार्शनिक विचारो मे प्रौढता आने पर भी 'विशाख' नाटक तक उनकी दृष्टि अभिनय की ओर प्रमुख रूप से दिखाई पडती है। सारनाथ के ऐतिहासिक शोध ने उनके विचारो मे नवीन स्फूर्ति डाली। यही से परिवर्त्तन प्रारम्भ होता है।

सारनाथ मे प्राप्त बुद्ध की भव्य मूर्ति का 'प्रसाद' पर अपूर्व प्रभाव पडा था। वहाँ के भग्नावशेषो को वे घण्टो देखकर विचारमग्न होते। भगवान् तथागत के मुख से करुणा की महत्ता समझाने और बौद्ध विहारो के धराशायी होने के कारणो का उद्‌घाटन करने के लिए उन्होंने 'विशाख' की रचना की। उस समय सारनाथ का महत्त्व इतना व्यापक हो गया था कि चीन, ब्रह्मा, यूरोप और अमेरिका से यात्री इन भग्नावशेषो को देखने आते और भारत के अतीत वैभव पर चकित रह जाते। सारे देश मे बौद्ध धर्म की चर्चा सर्वोपरि स्थान प्राप्त कर रही थी। ऐसी अवस्था मे जनरुचि को प्राजल बनाने और सत्य-अहिंसा का महत्त्व समझाने के उद्देश्य से 'विशाख' नाटक की रचना हुई। इसके गानो मे पूर्णतया लोक-रुचि का ध्यान रखा गया। घटनाओ को भी आकर्षक एव रससिक्त बनाने का प्रयास किया गया। भाषा की सरलता, विचारो की ऋजुता, कथावस्तु की रमणीयता आदि गुणो से यह नाटक सर्वथा अभिनय के योग्य सिद्ध हुआ। 'प्रसाद' ने सम्भवत सबसे अधिक ध्यान इसकी अभिनेयता की ओर रखा। रगमच की सुविधाओ और आवश्यकताओ का इसमे पूर्ण रूप से निर्वाह पाया जाता है।

'प्रसाद' इसकी भूमिका मे लिखते हैं—'आजकल के पारसी रगमचो के अनुकूल ये नाटक कहाँ तक उपयुक्त होंगे, इसे मैं नही कह सकता। क्योकि उनका आदर्श केवल मनोरजन है। हाँ, जातीय आदर्शो से स्थापित यदि कोई रगमच, जहाँ कि चमक-दमक से विशेष ध्यान पात्रो के अभिनय पर और आदर्श के विकास पर रखा जाता हो, कोई सम्मति अपने अभिनय मे अडचन पडने की दे तो मैं उसे स्वीकार करने के लिए सर्वथा प्रस्तुत हूँ।'

इस कथन मे 'प्रसाद' का अभिनय सम्बन्धी विशिष्ट सिद्धान्त निहित है। इसमें चार सूत्र हैं जिन पर प्रकाश डालना आवश्यक है। सर्वप्रथम पारसी रगमचो के प्रति उनकी धारणा स्पष्ट होती है, अर्थात् अब तक विरचित उनके नाटको की पारसी-रगमच की कसौटी पर कसना वृथा प्रयास करना है। दूसरा सूत्र है कि अभिनेय नाटको का उद्देश्य केवल मनोरजन नही। 'प्रसाद' के नाटको को जो लोग केवल मनोरजन की अभिलाषा से देखने जायेंगे उन्हें निराशा होगी। तीसरा सूत्र 'जातीय आदर्शो से स्थापित रगमच' की स्थापना के सबध

में है। चौथा सूत्र है—'रगमच, जहाँ कि चमक-दमक से विशेष ध्यान पात्रो के अभिनय और आदर्श के विकास पर रखा जाता हो।' प्रसिद्ध है कि 'प्रसाद' ने एक बार थियेटर मे जब सम्राट् अशोक को चश्मा लगाए, छैला बने एक विलक्षण वेश मे देखा तो वे अपने साथियो के साथ उठकर बाहर चले गए।

'विशाख' की रचना के उपरान्त 'प्रसाद' ने सम्भवत मध्यवर्ग के लिए नाट्य-रचना का विचार कुछ काल के लिए त्याग दिया। उनकी दृष्टि कालिदास की ओर गई होगी और विशिष्ट वर्ग के लिए नाटक-सृजन की प्रेरणा उन्हें किसी न किसी प्रकार प्राप्त हुई होगी। उन्होने जिस उद्देश्य को लेकर नाटक लिखने का सकल्प 'विशाख' मे प्रगट किया, उसकी उपलब्धि 'कामना', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' मे स्थान-स्थान पर दिखाई पडती हैं।

आज के कतिपय समालोचक और नाट्यकार 'प्रसाद' के इन नाटको को अनभिनेय मानकर काव्य की कोटि मे रखने का आग्रह करते हैं। विचार करना चाहिए कि क्या ये नाटक सर्वथा अनभिनेय हैं।

प्रसाद के नाटकीय दोष

5. नगेन्द्र

बाबू गुलाबराय के विचारानुसार 'प्रसाद' के नाटको का सबसे पहला दोष रगमच-विषयक है। उनके नाटको मे अभिनय की त्रुटियाँ हैं। (१) उनकी अपरिवर्तनशील गम्भीर भाषा मे अभिनयोचित चाचल्य नही है। अनावश्यक दृश्यो की सख्या भी बहुत है। (२) बडा दोष है एकता के अभाव का। उसके लिए उत्तरदायी है 'प्रसाद' के मन मे चलता हुआ सुख-दु ख का सघर्ष, जिसके समाधान का प्रयत्न वे अन्त तक करते रहे थे। 'राज्यश्री' या 'ध्रुवस्वामिनी' मे वस्तुविचार कम होने से यह दोष नही आया। 'ध्रुवस्वामिनी' का सारभूत प्रभाव तो पूर्णांत एकसार है, परन्तु 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' जैसे बडे नाटको मे घटना-बाहुल्य मे फसकर नाटक का सकलन अस्त-व्यस्त हो गया है। (३) एक प्रमुख दोष यह है कि वस्तु-विधान मे कही-कही बडे भद्दे जोड लगे हुए हैं। अनेक स्थानों पर नाटककार को घटनाओ की गतिविधि सभालना कठिन हो गया है और ऐसा करने के लिए उसे या तो वाछित व्यक्ति को उसी समय भूमि फाडकर उपस्थित कर देना पडा है अथवा किसी का जबर्दस्ती गला घोट देना पडा है। यह बडे नाटको मे सर्वत्र हुआ है।

भाषा—सर्वप्रथम 'प्रसाद' के भाषा-सम्बन्धी दोषो पर विचार कर लिया जाय। तथ्य तो यह है 'प्रसाद' के नाटकों की गम्भीर भाषा अपने युग से २५

वर्ष आगे थी। 'प्रसाद' जी से एक बार उनके घर पर भाषा के सम्बन्ध मे चर्चा हुई। उसी दिन वे लखनऊ से हिन्दुस्तानी अकादमी की बैठक मे सम्मिलित होकर लौटे थे। दिल्ली मे उन्ही दिनो उनका एक नाटक खेला गया था, जिसमे भाषा की क्लिष्टता के कारण हिन्दी-नाटको का परिहास किया गया था। मैं इस कठिनाई को उनके सामने रखकर उनका सुझाव चाहता था। वे गभीरता-पूर्वक बोले—"हमारे देश मे हिन्दुस्तानी के आन्दोलन से भाषा-समस्या जटिल होती जा रही है। हिन्दी का रूप निखरने जा रहा था कि भारतेन्दु-युग मे एक राजा हिन्दुस्तानी को लेकर खडे हो गए। उसी प्रकार हमारे प्रान्त मे एक राय राजेश्वर[1] विरोध के लिए खडे कर दिए गए हैं। यदि यह आन्दोलन न चला होता तो शीघ्र ही राष्ट्रभाषा के उपयुक्त हिन्दी का प्राजल रूप बन जाता और शिक्षा-प्रचार के साथ-साथ परिष्कृत हिन्दी का प्रचलन हो जाता।"

इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 'प्रसाद' की दृष्टि मे नाटको के उपयुक्त भाषा का चित्र क्या था। हमे तो आज यही प्रतीत हो रहा है कि 'प्रसाद' जी भी यदि हिन्दुस्तानी के मोह मे पड गए होते तो उनके नाटक भी अल्पायु हो जाते। रेडियो की आज की भाषा इस ओर सकेत कर रही है कि निकट भविष्य में ही सामान्यजन की भाषा हिन्दी का स्वरूप क्या होने जा रहा है। इस प्रकार 'प्रसाद' ने भाषा के स्वरूप-निर्धारण मे भी दूरदर्शिता का ही परिचय दिया है।

'प्रसाद' की भाषा उन्हे दुर्बोध जान पडती है जो साहित्यिक भाषा को नाटक के अनुपयुक्त समझते हैं। नाटक मे काव्य-तत्त्व उसे रगमच की सीमा के बाहर भी जनप्रिय बनाता है। काव्य-तत्त्वरहित भाषा मे साहित्यिक रुचि वाले व्यक्ति को क्या आनन्द आएगा, इस विषय को स्पष्ट करने के लिए भाषा का रूप आपके सामने रखा जाता है—'अलग-अलग रास्ते' नामक नाटक मे रानी कहती है—"आप क्या मुझे मूर्ख समझते हैं। क्या आपका खयाल है कि उस अपमान, निरादर और घोर मानसिक यन्त्रणा के बाद मैं इतनी भोली हूँ कि आपकी इन झूठी-मीठी बातो के भुलावे मे आ जाऊँगी? आप जाइए, पिताजी से मकान लीजिए, मोटर लीजिए। मुझे उस मकान और मोटर की जरूरत नही।"

—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

'अजातशत्रु' नाटक मे पद्मावती उदयन से कहती है—"प्रभु! स्वामी!

---

१. उन समय राय राजेश्वर बली शिक्षामन्त्री और हिन्दुस्तानी अकादमी के सचालक थे।

क्षमा हो ! यह मूर्ति मेरी वासना का विषय नही है, किन्तु अमृत है, उन वुद्ध को मॉस-पिडो की कभी आवश्यकता नही ।" × × ×

× × × × —"नसें चढ गई होगी"

पाठक स्वय विचार करके देखें कि किस भाषा मे नाटकीय तत्त्व अधिक है। शेक्सपियर और कालिदास की भाषा मे वे क्या गुण हैं जिनके कारण हम आज भी उन्हे स्मरण करते हैं। शेक्सपियर के 'मर्चेण्ट ऑफ वेनिस' की स्मृति आते ही पोर्शिया का कथन किसे स्मरण न होगा ! ऐसे ही स्थल नाटको को दीर्घ-जीवी वनाने मे सजीवनी का काम करते हैं। आज हम छोटे-छोटे सरल वाक्यो मे समाज की कुरीतियो और रूढियो पर कुठाराघात देखने के अभ्यासी वन गए हैं। अत जिस नाटक मे वोलचाल की भाषा नही मिलती उसे काव्य कहने लग जाते हैं। पर यह आलोचना सर्वथा एकागी ही मानी जायगी—

अंग्रेज़ी मे नाटकोपयोगी आदर्श भाषा का विवेचन करते हुए पद्य और गद्य मे प्रवाहमयी मेजेस्टिक इगलिश को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। पद्य मे पोर्शिया और गद्य मे शाइलाक के निम्नलिखित उद्धरणो से यह वात स्पष्ट हो जायगी—

The quality of mercy is not strained,
It droppeth as the gentle rain from heaven
Upon the place beneath it is twice blest,
It blesseth him that gives and him that takes,
Its mightiest in the mightiest

—Portia

Hath not a jew eyes? Hath not a Jew hands, organs, dimensions, senses, affections, passions? Fed with the same food, hurt with the same weapons, subject to the same diseases, healed by the same means, warmed and cooled by the same winter and summer, as a christian is? If you prick us, do we not bleed? If you tickle us, do we not laugh? If you poison us, do we not die? And if you wrong us, shall we not revenge?

—Shylock

शेक्सपियर की इस भाषा मे कोई-न-कोई ऐसा आकर्षण अवश्य है जिससे आज तक इसे पढकर चित्त प्रफुल्ल हो उठता है। वह आकर्षण कहाँ है ? वह आकर्षण है प्रवाहमयी मेजेस्टिक भाषा की रमणीयता मे, जो लौह-हृदय को भी चुम्वक के समान खीच लेता है। हम 'प्रसाद' के नाटको मे भी यत्र-तत्र भाषा का यही रम्य रूप पाकर खिल उठते हैं। अत जिस रमणीयता को दोष माना जाता है वह तो नाटक का विशेष गुण है। ज्यो-ज्यो वोलचाल की हिन्दी का रूप निखरता जायगा, त्यो-त्यो 'प्रसाद' की गम्भीर भाषा की क्लिष्टता दूर

होती जायगी और दर्शको को उसमे रस आने लगेगा । भाषा की क्लिष्टता और सरलता तो प्रेक्षको की योग्यता पर निर्भर है ।

नाटक और प्रेक्षक

भरतमुनि ने नाटक की सफलता के लिए नाट्यशास्त्र मे नृत्यसगीत एव रगमच-विधान आदि विषयो पर विस्तार के साथ विचार किया है । उनकी दृष्टि से दृश्य-काव्य का कोई अग अदृश्य नही रहा है । जहाँ उन्होंने कवि-कृति के अग-प्रत्यग का विवेचन किया है वहाँ नटधर्म और प्रेक्षक धर्म पर भी प्रकाश डाला है । नटधर्म कवि-कृति को दृश्य बताता है और प्रेक्षक धर्म उसको अनुभवगम्य करा पाता है । इस प्रकार दृश्य-काव्य की सफलता केवल कवि-कौशल पर ही नही प्रत्युत नट के नैपुण्य और प्रेक्षक की सामर्थ्य पर भी अवलम्बित है । भरत मुनि प्रेक्षक की योग्यता के सम्बन्ध मे लिखते हैं—

एवमेतद्धि विज्ञेय सिद्धीनां लक्षरण बुधै ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्राश्निकाना तु लक्षणम् ।।४६।।
चारित्राभिनयोपेता शान्त वृत्तश्रुतान्विता ।
यशोधर्मरताश्चैव मध्यस्था वयसान्विता ।।४७।।
षडगनाट्यकुशला अलुब्धाः शुचय समा ।
चतुरातोद्यकुशला वृत्तज्ञास्तत्वदर्शिन ।।४८।।
देशभाषाविधानज्ञा कलाशिल्पप्रयोजका
चतुर्धाभिनयज्ञाश्च रस भावविकल्पने ।।४९।।
शब्दच्छन्दोविधानज्ञा नानाशास्त्रविचक्षरणा ।
एवं विधास्तु कर्तव्या प्रेक्षका नाट्यदर्शने ।।५०।।
अव्यग्रैरिन्द्रियैः शुद्ध ऊहापोह विशारद ।
व्यक्ता दोषोऽनुरागी च स नाट्ये प्रेक्षक स्मृत ।।५१।।
यस्तुष्टे तुष्टिमायाति शोकेशोकमुपैति च ।
दैन्ये दीनत्वमभ्येति स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृत ।।५२।।

—'भरत नाट्यशास्त्र'

"प्रेक्षक वह है जो चरित्रवान्, कुलीन, विद्वान्, यश और सुकृत का इच्छुक' पक्षपात रहित, वयस्क, नाटक के षट्अगो का ज्ञाता, जागरूक, सत्यवादी, वासनावेग से प्रभावविहीन, सगीतज्ञ, अभिनय के प्रसाधनो से परिचित, सवाद की भाषा से अभिज्ञ, चार प्रकार के अभिनय का ज्ञाता, व्याकरण, छन्दशास्त्र आदि का पडित, धर्मात्मा, भावो और भावनाओ का अनुभवी हो ।"

"जो किसी को प्रसन्न देखकर प्रसन्न और दुखी देखकर दुखी हो" ऐसे

उच्च कोटि के प्रेक्षको की तुष्टि जिस कृति के अभिनय से हो उस कृति को उच्च कोटि का दृश्य-काव्य अथवा नाटक कहना चाहिए।

सफल नाटक का मापदण्ड

आज के जनतन्त्रवादी युग मे जिन प्रेक्षको की सन्तुष्टि से नाटक की सफलता का अनुमान लगाया जाता है उनकी योग्यता किसी पर अविदित नही है। यही कारण है कि जहाँ अति सामान्य नाट्यकारो की कृतियो को सफल नाटक माना जाता है वहाँ प्रसाद के उत्कृष्ट नाटक, नाटक भी नही माने जाते।

जिस समय आलोचक 'प्रसाद' की भाषा को गम्भीर मानकर उनके नाटको को अनभिनेय कहने लगता है, उस समय उसका ध्यान पारसी थियेटर या तदनुवर्ती व्यवसायी एव अर्द्ध व्यवसायी अभिनय गृह की ओर आकर्षित रहता है। यदि किसी नाट्य-गृह मे भरतमुनि-कथित गुणो से समन्वित प्रेक्षक हो तो क्या प्रसाद के नाटको की भाषा उनको सहजबोधगम्य प्रतीत न होगी ? प्रसाद की भाषा के दुर्बोध होने का कारण उसका काव्य-तत्त्व है। जो काव्य-तत्त्व के पारखी हैं, उन्हे लाक्षणिक भाषा मे विशेष आनन्द प्राप्त होता है।

भाषा के अतिरिक्त 'प्रसाद' के नाटको मे जिन अन्य त्रुटियों का उल्लेख किया जाता है उन पर भी विचार कर लेना चाहिए। कहा जाता है कि 'प्रसाद' की कथावस्तु असम्बद्ध होने के कारण अनभिनेय है। देखना चाहिए कि इस तर्क मे कितना बल है।

प्रसाद के तीन प्रमुख नाटक 'अजातशत्रु,' 'स्कन्दगुप्त' के और 'चद्रगुप्त' कथा-सविधान मे दर्शको को घटनाओ का क्रम प्राय स्मरण नही रहता। सामाजिक एव पाठक को प्राय घटनाओ का तारतम्य समझने मे कठिनाई पडती है। इसका कारण असम्बद्धता नहीं, ऐतिहासिकता है। 'प्रसाद' ने अपनी कथावस्तु के लिए चिर-प्रचलित आख्यान न लेकर ऐतिहासिक शोध का सहारा लिया, शोध सामग्री के आधार पर कथावस्तु निर्मित की। इस कारण प्रेक्षक को दो विषय एक साथ समझने पडते हैं—इतिहास और काव्य। जो लोग इतिहास से सर्वथा अपरिचित हैं, उन्हें कथावस्तु मे अत्यधिक जटिलता प्रतीत होती है। तथ्य तो यह है कि धार्मिक एव सामाजिक कथानक की अपेक्षा शोधपूर्ण ऐतिहासिक प्रसगो का समझना कठिन होता है। जिन नाटको की घटनाएँ सामाजिक जीवन से सम्बध रखती हैं, उनको समझने मे उतनी कठिनाई नही होती जितनी शोध पर आधृत ऐतिहासिक नाटको की घटनाओ को समझने मे। इतिहास से अनभिज्ञ व्यक्ति को ऐतिहासिक व्यक्तियों के क्रियाकलापो और उनकी तत्कालीन रुचियो को

समझना उतना सरल नही, जितना चिरपरिचित धार्मिक एव आधुनिक युग के व्यक्तियो और उनकी रुचियो को। इस कारण भी प्रसाद के नाटको की जटिल कथावस्तु दर्शक को अधिक समय तक आकर्षित नही कर पाती और उसका मन नाटक से ऊबने-सा लगता है। उदाहरण के लिए 'अजातशत्रु' को लीजिए। कदाचित् इस नाटक का कथानक उनके सभी नाटको मे सबसे अधिक जटिल है। अत इसकी अभिनेयता पर विचार कर लेना आवश्यक है।

'अजातशत्रु' मे काशी, कोशल, कौशावी और मगध चार स्थानो पर घटना-चक्र इतनी द्रुत गति से घूमता रहता है कि दर्शक जब तक एक परिवार की समस्या को समझने का प्रयास करता है तब तक दूसरे स्थान पर दूसरे परिवार की नई-नई समस्याएँ उठ खडी होती हैं। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि तीन-चार घटनाक्षेत्र एक-दूसरे से नितान्त स्वतन्त्र हैं और इन घटनाओ का परस्पर कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं जो आधिकारिक कथावस्तु पर प्रत्यक्ष प्रभाव डाले। इस प्रकार आधिकारिक और प्रासगिक का भेद तिरोहित-सा हो जाता है। 'अजातशत्रु' के प्रथम अक मे तीन स्वतन्त्र घटनाएँ देखकर यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि नाटक का उद्देश्य क्या होगा ? मगध मे राजकुमार कुणीक (अजातशत्रु), कोशल मे विरुद्धक विद्रोही रूप मे दिखाई पडते हैं और कौशाम्बी मे पद्मावती अपमानित और सम्मानित होती हुई दिखाई जाती है। इस अक मे परिचय-मात्र होने से व्यापार में शैथिल्य दिखाई पडता है। दूसरे अक मे विरुद्धक मगध के विद्रोही राजकुमार (जो पिता बिम्बसार को अपदस्थ कर अब सम्राट् बन बैठे हैं) को काशी पर आक्रमण करने के लिए सहयोग का निमन्त्रण देते हैं। कोशल का सेनापति बन्धुल काशी युद्ध मे भेजा जाता है, जिसकी छल द्वारा विरुद्धक हत्या कर देता है और स्वय बन्दी बन जाता है। श्यामा (वारविलासिनी) एक दूसरे व्यक्ति (समुद्रदत्त) को उसके स्थान पर भेजकर विरुद्धक की रक्षा करती है। बन्धुल की हत्या से अजातशत्रु काशी प्रात को अधिकार मे कर लेता है। वह कोशल और कौशाम्बी को पराजित करने की योजना बनाता है। इतने घटना-चक्र को देखकर प्रेक्षक चकित रह जाता है। किन्तु जिस ऐतिहासिक तथ्य की धुरी पर यह घटना-चक्र घूम रहा है उसको प्रमाणित करने के लिए प्रसाद के लिए यह अनिवार्य था। प्रेक्षक को जब उसका ज्ञान हो जाता है तो वह आनन्दित हो उठता है और विविध घटनाओ को स्मरण रखने का प्रयास उसे सफल प्रतीत होता है। विचार करने पर उसे विदित होता है कि इन सब घटनाओ के मूल मे जो एक भावना काम कर रही है वह है राजलोलुपता के कारण अजातशत्रु का अपने पिता बिम्बसार को राज्याधिकार

से वचित करना। इसी घटना के कारण नाटक के भिन्न-भिन्न पात्र एक-दूसरे के सम्पर्क मे आते हैं।

दूसरे अक मे इन प्रमुख घटनाओ के अतिरिक्त और भी कई प्रासगिक घटनाएँ एक-दूसरी के ऊपर धक्कामुक्की करती हुई ऐसी विशृखलता उत्पन्न करती प्रतीत होती हैं कि पाठक या दर्शक के मानस-पटल पर कोई स्पष्ट चित्र नही वन पाता। कदाचित् 'प्रसाद' के नाटको मे इस अक के सदृश विशृखल योजना अन्यत्र न मिले। 'प्रसाद' को इस नाटक मे यह मोह-सा प्रतीत होता है कि सभी पात्रो के चरित्र विकास के लिए पाठको मे जिज्ञासा उत्पन्न करके सभी अवस्थाओ को दिखाते हुए उनकी परिणति दिखाई जाय। एक आलोचक ने ठीक ही कहा है, "जब नाटक का विषय अजातशत्रु है तो क्या आवश्यकता थी कि प्रसेनजित, विरुद्धक, छलना, मागन्धी, मल्लिका, पद्मावती, सबके लिए पाठक की उत्सुकता को उत्तेजित किया जाता और उनकी अन्तिम परिणति तक की तमाम अवस्थाओ को दिखाया जाता।"

प्रसाद के नाटको मे अभिनेयता की दृष्टि से सबसे अधिक सुन्दर अभिनय सामग्री इस अक मे भी विद्यमान है। इस अक मे बाह्य सघर्ष के साथ-साथ आभ्यन्तरिक सघर्ष आद्योपान्त दिखाई पडता है। सूचना-परक दृश्यो के अतिरिक्त सर्वत्र ही नाटकीयता का दर्शन होता है। बन्धुल और विरुद्धक, विरुद्धक और श्यामा के कथोपकथन तथा समुद्रदत्त और श्यामा के वार्तालाप में कितनी नाटकीयता है। वारविलासिनी श्यामा के प्रोत्साहित करने पर उसका प्रेमी समुद्रदत्त कहता है—

"भला यह कैसी बात सुन्दरी श्यामा, तुम मेरी हँसी उडाती हो। तुम्हारे लिए यह प्राण प्रस्तुत है। बात इतनी ही है कि वह मुझे पहचानता है।" श्यामा के आदेशानुसार जब वह रुपयो की थैली लेकर अकडता हुआ दडनायक के पास चला जाता है तो श्यामा कहती है—

"जाओ बलि के बकरे, जाओ। फिर आना। मेरा शैलेन्द्र, मेरा प्यारा शैलेन्द्र।" इस स्थान पर नाट्य-कला की दृष्टि से 'नाट्यापह्नुति' (Dramatic Irony) द्वारा अभिनय में प्राण का सचार हो उठता है। ऐसे विनोद का प्रभाव पाठको और दर्शको के मन पर दीर्घ काल तक बना रहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि अभिनय की दृष्टि से 'प्रसाद' के जिस नाटक को असफल माना जाता है उसमे भी अभिनेयता का अभाव नही है। अन्य नाटको की तो बात ही क्या? 'अजातशत्रु' के उपरान्त 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' मे न तो घटनाओ की इतनी बहुलता है और न वस्तुयोजना मे विशृखलता।

इन नाटको मे आद्योपान्त अभिनय की सामग्री पग-पग पर विद्यमान है। प्रश्न उठता है कि फिर ये नाटक रगमच पर सफल क्यो नही होते ?

दृश्य-परिवर्तन

आज के अविकसित हिन्दी रगमच को देखकर 'प्रसाद' के नाटक अनेक दृश्य-परिवर्तन के कारण अनभिनेय जान पडते हैं। पर आश्चर्य है कि 'स्वतन्त्रता का सग्राम' नामक विष्णु प्रभाकर के नाटक में 'प्रसाद' के किमी नाटक से अधिक दृश्य हैं। उक्त नाटक में ४७ दृश्य हैं जहाँ 'प्रसाद' के नाटको में ४१ से अधिक दृश्य नहीं मिलते। आज रगमच एक सीमा तक विकसित हो चुका है। रिवाल्विग स्टेजो पर दो-दो दृश्यो की तैयारी एक साथ की जाती है। जब तक एक दृश्य प्रेक्षको के सम्मुख होता है दूसरा प्रस्तुत कर लिया जाता है। इस प्रकार दृश्यपरिवर्त्तन की कोई कठिनाई नही।

दार्शनिकता

'प्रसाद' के नाटको का मध्यवर्ग के लिए अनभिनेय होने का सबसे बडा कारण उनकी गम्भीर दार्शनिकता है। 'चन्द्रगुप्त' मे चाणक्य जब कहता है— "मेघ के समान मुक्त वर्षा-सा जीवनदान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना, नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना, यही तो ब्राह्मण का आदर्श है।"

तब गीता धर्म को न समझने वाला दर्शक विमूढ बन जाता है और उसकी समझ मे नही आता कि यह कह क्या रहा है ? "प्रसाद ने नाट्यक्षेत्र मे नाटक को सर्वथा नवीन चित्र दिये, नई घटनाएँ दी, नया ऐतिहासिक देशकाल दिया। सम्पूर्ण नया समारम्भ किया।" इस नये युग के सन्देश को सुनने मे जो लोग असमर्थ थे उन्होंने इसे काव्य कहकर पुकारा।

ऐसी ही एक घटना इग्लैंड मे हुई। काग्रीव नामक एक नाट्यकार प्रचलित पद्धति के विरोध मे नया शिल्प लेकर आया। उसने 'The Way Of The World' नामक एक ड्रामा लिखा। उसका अभिनय उस समय कभी सफल न हुआ। कारण यह था कि उसकी भाषा, उसके विचार और उसकी शैली को ग्रहण करने की सामर्थ्य उस समय जनता में न थी। आज वह अग्रेजी के सर्वोत्कृष्ट नाटको मे परिगणित होना है।

आज समस्या-नाटकों के विरोध मे ईट्स, ईलियट आदि नाट्यकार खडे हुए हैं। उनकी भाषा, उनके विचार, उनकी शैली प्राचीन ग्रीक नाटको की पद्धति पर जा रही है। दार्शनिक विचारो को काव्यमय भाषा मे गुम्फित किया जा रहा

यक्षगान का इतिहास

यक्ष—यक्ष धन के रक्षक देवता माने जाते हैं जिनका अधिपति कुबेर है। पुराण मे प्रतीति है कि दुर्गाजी का मानवी व्यवहार यक्षिणी के द्वारा होता है। किन्तु यह निश्चित नही कि वह व्यवहार, गान, सगीत, नृत्य कैसा था। अनुमान किया जाता है कि अलका नगरी के उद्यान में वे सामूहिक नृत्य, गीत समन्वित खेल करते थे। उनके खेल का नाम यक्षगान हुआ, ऐसी हमारी धारणा है। अभी तक यह प्रतीति है कि एकान्त अरण्य, नदी तीर, गिरि, पुष्पोद्यान, विलास-स्थान आदि मे वे अदृश्य रूप से निवास करते हैं। उनका जीवन विलासमय होता था।

यक्ष और मानवो का सम्बन्ध—विशेषकर शृगार रस प्रधान ललित कला मे—अति घनिष्ट था और इस विषय मे यक्षगण मानवो के आदर्श और पूज्य थे। ऐसी स्थिति कालिदास के युग मे भी विद्यमान थी। उनके समय मे वन-देवता और यक्षो की पूजा वडे धूमधाम से होती थी। मौर्य शुग सातवाहन की कला मे यक्ष तथा यक्षिणियों के सुन्दर दृष्टान्त मिलते हैं। यद्यपि परमात्मा के विविध रूपो की पूजा का प्रचार था तथापि यक्षों के प्रति भी जनता मे वडी श्रद्धा थी। मेघदूत तो यक्ष विषय का एक अत्युत्तम निदर्शन है।[1]

कालिदास ने उत्तरमेघ मे उन यक्षो की नगरी और उनकी विलासप्रियता का इस प्रकार वर्णन किया है। मेघ को सम्बोधित करते हुए विरही यक्ष कह रहा है—

"जिस अलकापुरी की सुन्दर महिलाएँ चित्रकला मे प्रवीण हैं, जिनके हाथो मे मधुर सगीत के उपयुक्त विविध वाद्ययन्त्र हैं और जिनका आवास आकाश को स्पर्श करने वाला है, जहाँ की भूमि रत्नो से जडी हुई है उस अलकानगरी मे षड्ऋतुएँ सदा विराजमान रहती है अर्थात् मानवलोक मे भिन्न-भिन्न ऋतुओ मे विकसित होने वाले पुष्प जहाँ वर्ष भर खिला करते हैं, जहाँ

---

1 Sculpture Inspired by Kalidas—C Suiramamurti, Page 3

की नववधुएँ हाथो मे नीला कमल, अलको मे वालकुन्द, मुख पर लोध्र पुष्प के पराग, चूडापाश मे नव-कुवरक, कानो मे शिरीप पुष्प और सीमन्तो मे कदम्ब कुसुम को धारण करती हैं ; जिसके जलाशय नित्य कमलो से परिपूर्ण होते हैं, जिनमे हस पक्तियाँ मेखला के समान दिखाई पडती हैं, जहाँ क्रीडा मयूर के पिच्छ सदा चमकते रहते हैं और जहाँ चन्द्र ज्योत्स्ना से रात्रि सर्वदा शोभायमान रहती है, उस अलकानगरी मे यक्षों के नेत्रो से आनन्द के ही आँसू झरते दिखाई पडते हैं।

प्रियजन के समागम से प्रशमन होने वाले कामज्वर के अतिरिक्त और कही जहाँ ताप नही है और प्रणय-कलह के अतिरिक्त जहाँ और कोई विरह का कष्ट नही है, युवावस्था के अतिरिक्त जहाँ कोई अन्य अवस्था नही है—उस अलकापुरी मे यक्षगण सुन्दर रमणियो के साथ, नक्षत्रों के प्रतिविम्वित पुष्पो से जटित स्फटिक के फर्शों पर बैठकर तुम्हारी गम्भीर ध्वनि के समान नगाडे के वजने पर कल्पतरु से उत्पन्न रतिफल मधु का पान करते हैं। वहाँ सुन्दरी यक्षकन्याएँ गगाजल के स्पर्श से शीतल पवन का आनन्द लेती हुई स्वर्ण वालुका राशि मे मणियो को छुपाकर , उनके खोजने की क्रीडा किया करती हैं। उस अलकापुरी मे आधी रात्रि के समय स्वच्छ चन्द्र की किरणो के सम्पर्क से छज्जो मे जटित चन्द्रकान्त मणियो से जलस्राव हुआ करता है जो जलस्राव प्रियतमो द्वारा किए गए प्रगाढ आलिगन से उत्पन्न वनिताओ के शारीरिक ताप का प्रशमन किया करता है और अक्षय भोग सामग्री वाले कामीजन अप्सरा रूपिणी वेश्याओ के साथ परिहास करते हुए उन किन्नरो के साथ क्रीडोद्यान मे विचरण किया करते हैं जो कुवेर की कीर्ति का उच्च स्वर से गान करते रहते हैं।"

इसके उपरान्त यक्ष अपने प्रासाद का वर्णन करते हुए कहता है कि—"मेरे गृह मे एक वापी है जिसकी सीढियाँ पन्ना मणि से निर्मित हैं। उस वापी के तट पर स्वर्ण की कदलियो से परिवेष्ठित सुन्दर इन्द्रनील मणियो का वना हुआ एक क्रीडा-शैल है।"

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यक्ष और किन्नर दो विलास-प्रिय जातियाँ किसी समृद्ध देश मे निवास करती थी, वाद्यसगीत पर जिनका अधिकार था और जो गानविद्या चातुरी के कारण भारतीय साहित्य मे प्रशसनीय वनी हुई थी। उन्ही के सगीत-नैपुण्य का अनुसरण करने वाली सगीतप्रिय कोई मण्डली यक्षगान का अभिनय दिखाकर जनता की प्रशसा पात्र वनी होगी। यह कहना कठिन है कि ऐसी गायनमण्डली ने यक्षगान का सर्वप्रथम अभिनय कव दिखलाया होगा ।

यक्षगान के प्रसिद्ध आलोचक श्री पाण्डेश्वर का कथन है कि ये नाटक आनन्दमय जीवन—नवरसजीवन की अभिव्यक्ति के प्रतीक हैं—इसीलिए यक्षगान कहलाते हैं। गानविद्या मे जैसे गन्धर्व लोग प्रथित थे, उसी प्रकार सालकार-नृत्य-गीत-विनोद विद्या में यक्ष लोग प्रसिद्ध थे। दुष्टदमन, शिष्ट परिपालन के लिए भगवान दशावतार धारण करते हैं। इन अवतारो की पुण्यकथा नटन द्वारा दिखाते हुए यक्षगान नाटक का दूसरा नाम है। इसमें गद्य भाग नही, गेयपद होते हैं। रामायण, भारत, भागवत से प्रसग लेकर यक्षगान की रचना होती है अत जब तक ये ग्रन्थ रहेगे निस्सदेह यक्षगान रहेगा।

नाटक का उद्देश्य आनन्द है। यक्षगान के आविर्भाव पर विविध मत हैं। कुछ लोगो का मत है कि इनका उद्भव सस्कृत नाटको से हुआ। दूसरा मत है कि इन पर सस्कृत का प्रभाव नही प्रत्युत द्राविड कला के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। तामिल देश मे 'तेरुक्कूटा' तथा केरल का 'कथक्कली' कली (खेल) की तरह इसका उद्भव स्वतन्त्र है। इन दोनो पक्षो मे थोडा-थोडा सत्य है।

कला का उद्देश्य आनन्द प्राप्ति है। "आनन्दो ब्रह्मवै जानाति।" यह आनन्द दो प्रकार का, शारीरिक और मानसिक है। जैसे शारीरिक आनन्द के लिए स्वास्थ्य आवश्यक है, वैसे ही मानसिक आनन्द के लिए निश्चिन्तता। निश्चिन्तता का अर्थ तल्लीनता अथवा एकाग्रता है। यही योग मे भी होता है। सब चिन्ताओ को मिटाकर मन को निश्चिन्त करने की शक्ति कला मे विद्यमान है।

आनन्दानुभव के लिए रसग्राहकता आवश्यक है। षट्रस के सम्मिश्रण से जैसे शरीर का आरोग्य प्राप्त होता है उसी प्रकार शृगार वीरादि नवरसो के उपयुक्त अनुभव से मानसिक आनन्द प्राप्त होता है। जिस प्रकार षट्रसो की रुचि के अनुभव करने का उपादान जीभ है, उसी प्रकार नवरसो के अनुभव का प्रधान उपकरण श्रवण है, (नाटक मे नेत्र है)। 'आत्मा मनसा समेत्यार्थन्भुक्ते'। इन्द्रियो के द्वारा मन और मन के द्वारा आत्मा रस का अनुभव करता है। 'इन्द्रियाणामनश्चास्मि'। इसलिए भगवान् ने कहा कि मन इन्द्रियों मे प्रधान है। इस मन को सुसस्कृत करने का प्रधान साधन कला है। षट्रस सयुक्त पदार्थ दृश्य हैं किन्तु नवरसयुक्त काव्य अदृश्य होते है।

मनुष्य समाज-जीवी है। इससे अपने अभिप्राय को दूसरे पर अभिव्यक्त करने के बिना समाज मे जीवित नही रह सकता। मनुष्य अपने अभिप्राय को वाणी अथवा सकेत मे प्रकट करता है। नाद और नटन—ये ही दो भावाभिव्यक्ति के मूल साधन थे। प्रारम्भ मे राग, क्रोध, करुणा, सतोष, दुःख, जुगुप्सा प्रभृति भावो को प्रदर्शित करने को मनुष्य रागताल का अवलम्ब लेते थे। [सगीत का

ने 'वागर्थाविव सपृक्तौ वागदर्था-प्रतिपत्तये'[1] द्वारा इस अर्थ को ध्वनित किया है। वाक् क्या है ?—सौंदर्य रूपी पार्वती, और अर्थ ?—सत्यरूपी शिव। इस सत्य सौन्दर्य का जो सयोग है उसी से सृष्टि की स्थिति है। सत्य तो तेज को धारण करने वाले विरक्त शिवरूप हैं। सौन्दर्य तेजोवल से प्रेम करके, उसका अनुकरण करती हुई त्रिपुर सुन्दरी पार्वती हैं। अर्थ को जानने के लिए वाक की सहायता आवश्यक है। जो वाणी की कृपा के पात्र नहीं हैं, वे दृश्य से भी अर्थ को समझ लेते हैं। इसी उद्देश्य से दृश्य की सृष्टि हुई, यह स्मरणीय है।

दृश्यकाव्य सौन्दर्य द्वारा ललितात्मक होने से कान्ता सम्मित उपदेश देता है। वह सगीत, साहित्य, शिल्प, चित्र नाट्य पचकलाओ का प्रदर्शन होने से पूर्ण है।

'त्रैलोक्यस्य सर्वस्य नाट्य भावानुकीर्त्तनम्

The essence of त्रैलोक्य is the depiction (delineation) of the emotions of human beings

'लोकवृत्तानुकरण नाट्यमेतन्मयाकृतम्—

वशपरम्परा से 'भागवत' कथा का गान करते हैं। वे लोग भागवत इस कारण कहलाते हैं कि वे भागवत रामायण आदि की हरि कथाएँ गा गाकर वैष्णव धर्म का प्रचार करते थे। उन्हें कथा कठस्थ होती थी। ये कथाए वश परम्परा से मौखिक चली आ रही हैं। उपलब्ध प्राचीन यक्षगान साहित्य के प्रमुख लेखक हैं—

(१) शान्तय्या गेरुमप्पे (मैसूर) और

(२) पार्त्तिसुब्ब (कुमडा, मगला)

इनकी रचनाए अठारहवी शताब्दी के अतिम भाग मे उद्भूत हुईं।

यक्षगान, भागवत तया वादनकाव्य—

यक्षगान कथारूप मे होता है किन्तु उसका अभिनय 'भागवत' के द्वारा रगमच पर दिखाया जाता है। भागवत वाजा वजाते हुए गाया जाता है और पात्रगण अभिनय के द्वारा उसे स्पष्ट करते हैं। चत्ताण, वेदडे और वाजनगव्वा वादन काव्य कहलाते हैं।

इससे प्रमाणित होता है कि उपर्युक्त तीन प्रकार के यक्षगान होते थे। यक्षगान नाटक नामकरण से पूर्व इसका नाम 'भागवतो का मेला' वयलाटा (मैदान का खेल), दशावताराटा आदि थे। इसका एक सम्प्रदाय था जिसका

१ रघुवश—प्रथम सर्ग, प्रथम श्लोक

क्रमश विकास होता गया। यह विकासक्रम इस प्रकार है।

आरम्भ मे किसी लघु प्रसग को लेकर लघुनाटक अथवा एकाकी की रचना की जाती थी। कलाकार आनन्दोत्सव के अवसरो पर सामूहिक रूप से गान, गीत, खेल अथवा नृत्य के द्वारा जनता का सन्तोष एव मनोरजन किया करते थे। एक घटना को लेकर उसी की अभिव्यक्ति वेशभूषा, नटन आदि साधनो के उपयोग के द्वारा की जाती थी। इस प्रकार यक्षगान का प्रारम्भ लघुकार्यक्रम से हुआ और उत्तरोत्तर विस्तार बढता गया। अब तो इसका इतना प्रचार हो गया है कि रात-रात भर अभिनय चलता रहता है और एक मुख्य घटना को ही न लेकर अनेक घटनाओ को सयुक्त किया जाता है। अक भी अनेक होते हैं।

देशी यक्षगान सामान्य जन विरचित, सामान्य जनहिताय और सुलभ ग्राह्य होता है। वह पडित पामर दोनो वर्गों को रसानुभूति कराने वाला होता है अत उसका प्रचार अधिक हुआ। वह जनपद साहित्य था अतएव नाटको की अपेक्षा उसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई।

शास्त्रीय नाटक और यगक्षान मे अन्तर

नाटक राजविलास आदि मे ही विहित है। यक्षगान मे प्रत्येक पात्र भागवत के गान के साथ ताल पर नृत्य करेगा। प्रत्येक व्यक्ति का नृत्य भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। नृत्य के उपरान्त अर्थ भी स्पष्ट किया जाता है।

नाटक में दृश्य होते हैं परन्तु यक्षगान मे केवल नृत्य ही सब कुछ है। नृत्य मे ही अर्थ, भाव एव वृत्तियो सबको प्रकट करना होता है। इस दृष्टि से तुलना करें तो यक्षगान के पात्रो को सामान्य नाटक के पात्रो से अधिक चातुर्य अपेक्षित होता है। नृत्य, सगीत, अभिनय सभी कलाएँ उन्हे आती हैं।

आधुनिक समय मे जनता की कलाभिरुचि इस ओर विशेष रूप से आकृष्ट हो रही है। यन्त्रो से ऊबा व्यक्ति इन सरल प्रकार के लोकनाटको को विकसित कर रहा है। यान्त्रिकत्व के अतिरेक से जुगुप्सित होकर जनता अपने प्राचीन नृत्यगीत, नाटक प्रभृति सम्प्रदायो के सात्विक आनन्द की ओर दृष्टि डाल रही है। गाधी जी की प्राचीन कलाभिमान एव स्वजनाभिमान की भावनाओ ने भी इस साहित्यधारा को पुनरुज्जीवित एव प्रोत्साहित किया। यान्त्रिक, जमीदार, समृद्ध व्यक्ति भी इसकी ओर कृपादृष्टि डालने लगे हैं। विद्वानो मे यह धारणा रही है कि यक्षगान का आविर्भाव अशिक्षितो, ग्रामीणो अप्रबुद्ध सामान्य जनता मे हुआ और वहीं इसका प्रचार था तथापि इस जागृत-युग मे इसकी बडी आवश्यकता है। जितनी जनजागृति बढेगी उतना ही मान बढ़ेगा। आजकल कुत्सित

भावना, बुरा आचार, दु:शीलता केवल कलाविदो मे ही नही, सर्वत्र दृष्टि-गोचर हो रही है। भला-बुरा, दिवानिश, सुख-दु ख के समान सर्वत्र विद्यमान है। कलाविदो मे भी अच्छे आचरण के व्यक्ति हैं। व्यापारी, सरकारी नौकर, अध्यापक, मकानमालिक, स्वामी-सेवक आदि मे भी सर्वत्र दो वर्ग होते हैं। इसी प्रकार कलाविद भी दो प्रकार के हैं—दुश्शील और सुशील। कलाविदो की दु शीलता से कला की हानि नही होती। कला जो आनन्द उत्पन्न करती है, उसमे ह्रास नही होता। काली गाय से भी दूध उत्तम मिलता है। वैद्य रोगी होगा तो भी उसकी औषधि से रोग दूर ही होगा। विवेकी, उदार, रसिक व्यक्ति कलाकार के दोष के कारण सम्पूर्ण कला का तिरस्कार नही करते। इसका अर्थ यह नही कि मैं कलाकार की जीवन की शुद्धि को महत्त्व नही देता।

ग्राम्यधर्मप्रवृत्तेतु कामलोभवशगते।
ईर्ष्याक्रोधाभिसमूढे लोके सुखित दु.खिते॥

काम, क्रोध, लोभ, मोहादि दुर्गुण के दुराचार से जो लोग दुखभाजन हो गए हैं उनको सन्मार्ग पर ले जाकर सुखी बनाना नाटक का उद्देश्य है। नाटक ‹ लोक-जीवन की सब भावनाओ को दर्पण के समान प्रतिविम्बित करता ‹ अत दर्पण जितना स्वच्छ होगा उतना प्रतिविम्ब भी स्पष्ट होता है। दर्पण मे केवल प्रतिविम्व प्रतिफलित होता है न कि मूल। इस प्रकार नाटक एक घटना का नटन है, मूल घटना नही तथा नाटक के नायक प्रतिनायक पात्रधारी नट सामान्य मनुष्य हैं मूल नायक प्रतिनायक नही। राम, धर्मराज, भीष्म का जो वेश ग्रहण करते हैं उनको वैसा ही सत्यवादी सद्गुणी होना यदि आवश्यक मानोगे तो कीचक, रावण आदि के लिए दुष्ट मनुष्य का पात्र होना अनिवार्य होगा। यदि दुष्ट पात्र नित्य जीवन मे भी रावण, कीचक आदि के समान व्यवहार करे तो वह हास्यास्पद होगा। राजा का अभिनय करने वाला राजा
हो, पापिष्ठ की भूमिका करने वाला पापिष्ठ, भिक्षुक का भिक्षुक हो—यह
यक्ष॰ त्र है। नट के नटन की सामर्थ्य माप का मानदण्ड क्या है? मूल पुरुष
रगमच पर। ॰चार आदि का उसने उपयुक्त रीति से नटन (अभिनय) किया या
पात्रगण अभि॰ ॰र तक वह अभिनय करता है उतनी देर के लिए यह गुण
वादन काव्य कहल॰ त नटो के वैयक्तिक आचरण से उनकी अभिनय शक्ति को
इसमे प्रमाणि॰ ॰। "There is no rose but hath a thorn."
यक्षगान नाटक ना॰ ॰ई गुलाव नही (शेक्सपीयर) पूर्णचन्द्र मे भी कलक है।
(मैदान का खेल), द॰ पर क्या चन्द्रिका मे भी कालिमा है।" [रत्नाकर सिद्ध

१ रघुवश—प्रथम सर्ग, प्र॰ शती]

सुधार

आधुनिक युग मे कुछ सुधारवादी आलोचक यक्षगान की प्राचीन रचना परिपाटी एव परम्परा से असन्तुष्ट होकर उसके मूलरूप मे ही परिवर्तन करना चाहते हैं। सर्वप्रथम, उनके अनुसार, यक्षगान के गायन मे परिवर्तन की आवश्यकता है। गान को आधुनिक रूप देने की आवश्यकता है जिससे वह आधुनिक जीवन के अधिक निकट हो। देवता एव राक्षस के लिए गान की भिन्न-भिन्न शैली होनी चाहिए।

गान एव नृत्य के उपरान्त यक्षगान के पात्र अर्थ को भी स्वय स्पष्ट करते हैं। सुधारवादियो के कथनानुसार इस 'अर्थ वोलने' की पद्धति मे भी सशोधन की नितान्त आवश्यकता है।

यक्षगान के विषय तथा पात्रो की वेषभूषा मे भी सुधार की वडी आवश्यकता है। देशकाल तथा योजना के कारणो पर विचार करके सुधार किए जा सकते हैं। रामयुग मे अर्जुन, भीम आदि का वर्णन उपयुक्त नही। इससे स्वाभाविकता नही रह जाती।

सुधारवादियो के अनुसार दशावतार के लीला-विनोद आदि की वर्णन-पद्धति मे भी सुधार अनिवार्य है। प्राचीन परिपाटी के आधार पर राम-कृष्ण, युधिष्ठिर आदि सत्य-धार्मिक पुरुषों-स्त्रियों का नाम कान मे पडता है और उनके वेश सामने आते हैं तव जैसा पवित्र गौरव-भाव हमारे हृदय मे उत्पन्न होना चाहिए, वैसा भाव या भावना आधुनिक लोगो के हृदय मे नही उत्पन्न होती अत यक्षगान मे पुराण-कथाओ के लिए जैसा पवित्र भाव है वैसा अन्य लोगो के हृदय मे नही उठता। इस क्षेत्र मे भी सुधार नितान्त अपेक्षित है।

सुधारवादियो का यह भी कहना है कि यक्षगान मे स्थानीय वैशिष्ट्य होने के कारण वह देश तथा राज्य की सीमाओ मे वँधकर रह गया है। एक स्थान के लोग दूसरे स्थान के यक्षगान प्रवन्ध का अर्थ नही समझ पाते। इस दोष के मिटाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। सर्वत्र एक सामान्य भाषा का प्रयोग किये जाने से ऐसा सुधार सम्भव है।

प्राचीन यक्षगान साहित्य की खोज एव अनुसन्धान की ओर भी सुधारवादियो ने सकेत किया है। मेघदूत (यक्षगान) की रचना किसी पूर्व-रचित यक्षगान की पद्धति के आधार पर हुई या नही आदि शोध के विषय हैं।

यक्षगान-परम्परा

यक्षगान करनाटक का एक प्रसिद्ध नाट्य-कौशल है। यह नाट्य, गान, वादन,

भाषण, अभिनय, हावभाव, विभिन्न रग, वेडगू (अग-विन्यास) का सम्मिलित रूप है। रस-रूप मे परिणत होने वाला इसके सदृश कोई अन्य नाट्य-विधान करनाटक मे तो क्या सम्पूर्ण भारत देश मे सम्भवत नही मिलेगा। इस यक्षगान कला ने जनपद जीवन मे ओत-प्रोत होकर जीवन-यात्रा को भव्य एव सौंदर्यमय बनाने मे अद्भुत योगदान दिया है। यह नाट्यकला सर्वथा जन-सामान्य की प्रतिभा से उद्भूत हुई है।

विजयनगर के इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि सोलहवी शताब्दी मे करनाटक यक्षगान का रगमडप था। यहाँ प्राय प्रतिदिन यक्षगान अभिनीत होते रहते। इसके पूर्व तामिलनाड तथा केरल मे जन-नृत्य एव जन-नाट्य शताब्दियो से प्रचलित थे। जिनके प्रभाववश अथवा स्वतन्त्र रूप से करनाटक मे जननाट्य के रूप मे यक्षगान की सृष्टि हुई।

कतिपय लाक्षणिक ग्रन्थो में सभालक्षण सस्कृत मे उपलब्ध होने से ज्ञात होता है कि यक्षगान की स्थिति भी उस काल मे बहुत ऊँची रहती थी। डा० के० एम० कृष्णराव के मत से १७वी शताब्दी मे ही कृष्णगिरि, कृष्णैया और विमलानन्द ने क्रमश 'लक्ष्मण-विलास' और 'कृष्णार्जुनरकाडग (युद्ध) नामक दो काव्य बनाये है। आर्य-सस्कृति एव द्राविड-सस्कृति के सगम के पूर्व-उत्तर पथ तथा दक्षिण पथ के मूल निवासी द्राविड लोग जानपद कलाओ मे निपुण थे। उदाहरण रूप से राजपूताने के भील जो सरदारपुर, धारासैलान, रतलाम, इन्दौर, अली-राजपुर, जोबट आदि स्थलो मे प्रस्तर शिला आदि के मध्य तथा निविडारण्य मे रहते हुए भी अशिक्षित अवस्था मे भी जानपद सगीत तथा नाट्य मे अत्यन्त निपुण थे। भारत की उत्तर-पूर्व सीमा पर ब्रह्मपुत्र नदी के तट-वासी नाग लोग, नीलगिरि के तोडा लोग, छोटा नागपुर के सान्थाल तथा द्राविड जनाग के मूल-निवासी नाट्यकला एव सगीत-विद्या मे निपुण थे। इनकी कला के मूल मे द्राविड सस्कृति थी। इससे प्रमाणित होता है चाक्षुप लिपि ज्ञान के पूर्व भारत मे श्रव्य गीत तथा नाट्य का अस्तित्व था। इनमे यक्षगान का भी स्थान था। शोधको का मत है कि ऋग्वेद के नवें मडल के ६७ अध्याय के ३० सूक्त मे कई कन्नड शब्द प्राप्त होते हैं। ईसा की दूसरी शताब्दी 'आक्सरिकस' नामक ग्रीक-नाटक मे कुछ भाग कन्नड भापा का मिला है। जिसमे जानपद नाटक के प्रयोग का उल्लेख है।

मुए-जो-दारो के ध्वसावशेप से जो शासन-मुद्रा प्राप्त हुई है उस पर उत्कीर्ण

ऋग्वेद—९ मडल ६७ अध्याय

भाषा दक्षिण भारत की भाषाओ की जननी प्रतीत होती है। अत. वह कन्नड भाषा के भी वहुत समीप है। ये शासन-मुद्राए पाँच सहस्र वर्ष पुरानी सिद्ध हो चुकी हैं। उन शासन-मुद्राओ से कन्नड मे प्रचलित लावनी गान का प्रमाण मिलता है। कुमुदेन्दु गुरु की रचना भूवलय काव्य (६वी शताव्दी) मे ६ लाख श्लोक हैं।

अकलिपि मे निवन्व कन्नड भाषा के माध्यम से विविध वन्धो के द्वारा ७०० भाषाओ मे विरचित यह काव्य अनुपम है। इसमे 'तिवदी चत्ताण वेदडे' दीख पडते हैं जो यक्षगान से निकट सम्वन्व रखते हैं। इस ग्रन्थ के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सस्कृत से स्वतन्त्र एक कन्नड भाषा विकसित हो रही थी।

अठारहवी शताव्दी से पूर्व यक्षगान प्रवन्व मौखिक रूप से प्रचलित हो चुका था। लेखवद्ध रूप तो अठारहवी शताव्दी मे आरम्भ हुआ होगा। रघुनाथ नायक का 'श्री रुक्मिणी-कृष्ण-विवाह' रामकवि का 'पद्मावती" (१७५५ ई०) तिप्पेयार का 'हनुमत्विलास', पद्मराज का 'विजयकुमारन कथे' नजय्य का 'कपोत वाक्य' गग का 'गिरजा कल्याण', साम्वय्य का 'सारगवरण कथय', और 'करिय (काला) वटन (सेवक) का (कथय)', रगाचार्य का 'प्रह्लाद चरिते', स्वामी कवि का 'पारिजात', काशीराम का 'मल्लिकार्जुन चरिते', कस्तूरीसिंह का 'चोरकथय' आदि प्रसिद्ध यक्षगान माने जाते हैं किन्तु इनकी कोई प्रति अभी तक उपलव्ध नहीं हुई है। केवल इनके नाम मिलते हैं। सव मिलाकर २५० यक्षगान कृतियाँ विद्यमान हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मैसूर के ओरियटल रिसर्च इस्टिट्यूट मे २०० वर्ष प्राचीन यक्षगान की प्रतियाँ हैं। यदि ये सव यक्षगान काव्य साहित्य गगन में दीप्यमान नक्षत्र हैं तो यक्षगान कवि कुलावतश पार्तिसुब्व का रामायण चन्द्रमा के सदृश भासमान हो रहा है।

तदुपरान्त नन्दलिके लक्ष्मीनारायण ने मुद्दण उपनाम से दो यक्षगान, १ 'कुमार विजय' २ 'रत्नावती कल्याण' यक्षगान काव्योद्यान मे सौरभ परिपूर्ण दो वृक्ष प्रस्तुत किया है। इनके प्रसगो मे यक्षगान काव्यो की नवीनता दीख पडती है। वे गान तथा ताल की विविध गति को प्रगट करते है।

तदुपरान्त गेरुसोप्प शान्तप्पय्या कवि की 'कर्ण पर्व', 'द्रोण पर्व', 'भीष्म पर्व', 'रावण दिग्विजय', 'सीता-कल्याण', 'सीता-वियोग', 'जरासन्व काडग', 'लवण सहार' प्रभृति कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। यह कवि आज से लगभग १२५ वर्ष पूर्व जीवित था। कडंदले रामराय की 'द्रौपदी प्रताप' प्रभृति कृतियाँ अभिनय योग्य हैं। कवि भूषण के० पी० वेंकप्प शेट्टी की 'वालि सुग्रीव', 'गदायुद्ध',

'भरतेश द्विग्विजय', 'लत्त पगडे', 'भारतद गुरुकुल' प्रभृति अर्वाचीन कृतियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। श्री शेट्टी का अभी देहावसान हुआ है। वे केवल कवि ही नही अपितु सफल अर्थकार भी थे। उत्तर कन्नड जिले के अग्रहार सभाहित विरचित यक्षगान प्रसग अभी तक प्रचलित हैं। कवि भूषण शेट्टी तथा सभाहित की कृतियो मे विशेषता शैली मे ही है। अतएव आज भी उत्तर कन्नड प्रदेश मे सभाहित शैली प्रचलित है। अब दुर्गाम्बा प्रासादिक की यक्ष नाट्य मडली करकी (स्थान विशेष) ने इनकी कृतियों को सगृहीत एव प्रकाशित करना प्रारम्भ कर दिया है। इनसे कई ताड पत्र लिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। इस शैली के रक्षक तो यल्लापुर प्रदेश एव करकी मेड के भागवत हैं। उत्तर कन्नड का माले कोडलू शम्भू भट्ट का 'चन्द्रहास चरित्रे' अभी प्रकाशित हुआ है। यह प्रसग उत्तम कोटि का माना जाता है। तथा दक्षिण कन्नड के जी० परमेश्वर भट्ट का 'चन्द्रहास चरित्रे' भी उच्चकोटि का है।

हलसन हल्ली नरसिंह शास्त्री ने भी 'चन्द्रहास चरित्रे' लिखा है। उत्तर कन्नड जिला के विख्यात अर्थगार (कार) सीताराम हेग्गडे सहृदय एव कला-जीवी व्यक्ति हैं। उन्होने 'भीष्मप्रपच' नामक यक्षगान की रचना की है। इसकी शैली, पद्य रचना अत्यन्त मनोहर है। उन्होने एक ऐतिहासिक यक्षगान 'विजयी करनाटक' भी लिखा है। इसके नायक सत्याश्रय पुलिकेशि प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। यह काव्य तीन-चार घण्टे मे अभिनीत होता है। इसमे एक पद्य बडा ही सरस है—

"मिचिनन्ददलि भूप। कण्डुत अर। सचेगामिनिय रूप।"

भूप पुलिकेशि ने राजहस गामिनी के रूप को विद्युत के सदृश देखा।

इनकी रचनाओ ने इन्हे बडी ही प्रतिष्ठा प्रदान की है। और ये आधुनिक यक्षगान के जनक माने जाते हैं। दक्षिणकन्नड के प० नरसिंह भट्ट का 'विल्ल हव्व' (Debt Relief Act) आधुनिक राजनैतिक एव सामाजिक समस्याओ के आधार पर लिखा गया है। श्री वेलसलिगे गणपति हेग्गले ने सम्पूर्ण रामायण एव समग्र महाभारत को भी यक्षगान के रूप मे लिखा है। उनकी काव्य प्रतिभा अमोघ है।

गुड्डमने सीतारामैया ने भी सम्पूर्ण रामायण लिखा है। तथा श्री जानकै तिम्मप्प हेग्गडे ने भी सम्पूर्ण रामायण यक्षगान के रूप मे लिखा है। इन कृतियो मे अन्तिम रचना सर्वश्रेष्ठ है।

यक्षगान की विशेषता यह भी है कि कतिपय कृतियाँ स्वय भागवत ने भी लिखी है। श्री जानकै तिम्मप्प वडे ही कुशल मृदग वादक भी है। उनकी अन्य

कृतियाँ ये हैं—'मारुति-प्रताप', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'मदन सुन्दरि स्वयवर', 'सती-अनसूया', 'चन्द्रहास चरित्रे'।

रगभूमि के योग्य काव्य रचना मे श्री हेगडे सिद्धहस्त हैं। इनका परिवार वहुत वडा है। इनका पारिवारिक व्यवसाय कृषि तथा पूगीफल उद्यान रक्षा है। इस परिस्थिति मे भी जव इन्हे घोर परिश्रम करना पडता है ये काव्य रचना मे तल्लीन रहते हैं। इनकी शैली अभिनय, गान, नर्त्तन एव सम्भापरा के अनुकूल तथा लालित्यपूर्ण है। इनके 'मारुति प्रताप' को कोडद कुलि मेल तथा करकी मेल ने रगभूमि मे प्रदर्शित किया है। सत्य हरिश्चन्द्र तो इडगुजिमेड द्वारा रगभूमि मे अभिनीत हुआ।

सभाहित के उपरान्त तिम्मप्प हेगडे ही उत्तम यक्षगान कवि माने जाते हैं।

अम्भिनड्डी के आत्माराम जी ने 'सतीशक्ति' तथा 'विवेक विजय' प्रसग लिखा है। प्रथम तो सावित्री का चरित्र है। दूसरे मे वेदान्त विचारो का प्राधान्य है। यह एक Alligorical Drama है। इसमे कामक्रोधादि मनोवृत्तियाँ पात्र हैं।

पाड्डुगव्व—

पाड्डुगव्व एक महाकाव्य होगा। पाड्डुगव्व का अर्थ है गीतो का समूह। अनेक गीतो का समूह पाड्डुगव्व कहलाता है। एक पाड्डु मे २५ 'पद' होते हैं। दो या तीन पाड्डु से पाड्डुगव्व होता है। उसमे ७५ पद होने चाहिए। आधुनिक यक्षगान की पदसख्या भी प्राचीन पाड्डुगव्व के सदृश होती है। हो सकता है कि पाड्डुगव्व के ही पर्याय शव्द मेलवाड्डु और वेदद्डे हो। वेदडेगव्व तो कविराज मार्ग के पूर्व देसि काव्य माना जाता था अतएव नागवर्म ने उसे 'रूढ्डिय वेदद्डे गव्वमु' नाम से अभिहित किया। इससे प्रमाणित होता है कि वेदद्डे गव्व अति प्राचीन काव्य है।

चत्ताण—

कविराज मार्गकार के कथनानुसार कई कन्द (स्कन्ध), वृत्त, अक्कर (एक प्रकार का मात्रा छद) चौपदी, गीतिका, तिवदी (त्रिपदी) आदि के सम्यक् मिलन से चत्ताण निर्मित्त होता है। नागवर्म ने चत्ताण का उल्लेख नही किया। सम्भवत उनके युग मे वेदद्डे के सदृश चत्ताण की प्रसिद्धि न हुई हो। अथवा चत्ताण उस मेलवाड से अभिन्न रहा हो जिसका वर्णन नागवर्म ने किया है।

दूसरा मत ही अधिक तर्क-सगत प्रतीत होता है क्योंकि नागवर्म ने पदमेलवाड्डु से लेकर वेदडे तक जो कहा है वे गान अथवा अभिनय दोनो के उपयुक्त हैं। चत्ताए यद्यपि देसि है किन्तु अर्वाचीन सर्गबद्ध मार्गीय काव्य की तरह केवल श्रव्य है न कि दृश्य।

पद—

कन्दर[1] (स्कन्धक) या अन्य सुप्रसिद्ध वृत्तजाति के सम्मिश्रण से 'पद' निर्मित होता है। इस 'पद' मे जो वृत्त दिखाई पडता है वह सस्कृत का 'शार्दूल-विक्रीडित' आदि गण वृत्त नहीं प्रत्युत मात्रा नियम का अनुसारी जाति वृत्त है। देसिगव्व मे अक्षर गण वृत्तो को स्थान नही। अत यह दो पद्यो—स्कन्धक तथा वृत्त जाति के मिलन से 'पद' बन जाता है। यक्षगान मे गीतो की 'पद' सज्ञा जो आज रूढि वन गई है इसी कारण से हुई होगी। अर्थात् पद का नामकरण इसी कारण हुआ होगा। इसे काव्य न कहकर केवल पद इसीलिए कहा जाता है।

मेलवाड्डु—

मेलवाड्डु मे अधिक से अधिक बारह पदो का सकलन हो सकता है। अर्थात् दो से लेकर १२ पद जहाँ एकत्रित होते हैं वह मेलवाड्डु कहलाता है। यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि मेलवाड्डु के प्रत्येक 'पद' मे एक स्कधक और एक वृत्त जाति का होना अनिवार्य था, किन्तु मेरी यह धारणा है कि इस देसि काव्य मे उक्त नियम का पालन सर्वत्र इतनी कठोरता के साथ नही किया जाता रहा होगा। विस्तार के रूप यह 'मेलवाड्डु' इतना वडा अवश्य रहा होगा कि इसमे एक लघु कथानक सन्निविष्ट हो जाए।

मेलवालु को कब्ब (काव्य) नहीं कहा जा सकता। मार्ग मे जो खण्ड काव्य थे उनसे भी ये लघु आकार के रहे होंगे।

पाड्डु—

मेलवाड्डु और पाड्डु मे सवमे वडा अन्तर है कि प्रथम (मेलवाड्डु) मे १२ पद सख्या तक विहित है किन्तु दूसरे अर्थात् पाड्डु मे १२ से १५ अथवा १५ से २५ तक पद सख्या होती है।

पाड्डु जव रसालकार सहित होता है तो पाड्डुगव्व अथवा खण्डकाव्य कहलाता है। जव रसालकार रहित होता है तो केवल पाड्डु कहलाता है। महाकाव्य

[1] कद—१२, २०, १२, २० मात्रा—स्कधक (एक प्रकार का आर्याछद)

नही कहा जा सकता। कारण यह है कि महाकाव्य के प्रमुख अग दीर्घ कथा, विवरण और वर्णन का इसमे अभाव रहता है।

अत' कविराज मार्गकार के पूर्व कन्नड देश मे देसि गव्वा प्रसिद्ध जनपद साहित्यकार बनकर आदर का पात्र हो गया था।

उपसहार—

उस साहित्य के दो प्रमुख भेद 'चत्ताण' और 'बेदडे' थे। चत्ताण तो पाठ्य एव श्रव्य काव्य था किन्तु 'वेदडे' दृश्य और अभिनेय। जिस प्रकार नाटक उप-कथा प्रधान साधनो से नियोजित होता है उसी प्रकार पद, मेलवाडु, पाडु सयोजित पाडुगव्व से यक्षगान विरचित होता था। इसी यक्षगान का पर्याय मेलवाकु वेदडे (वैदडिक), वाजनगव्व माना जाता था। यही 'एक्कल गान' (यक्षगान-आचार्य) भागवत होकर भिन्न-भिन्न वेशधारियो का मेला (मिलन) कराकर खेल दिखाता था। वही खेल 'नाडु पगरणम्' देशीय खेल कहलाता था। नाडु का अर्थ है जनपद और 'पगरणम्' का अर्थ है प्रकरण अर्थात् नाडु पगरणम् का अर्थ जनपद का प्रकरण। इसे ही जैन दृष्टि से 'यक्षान्दोल' कह सकते हैं। क्योकि जैन साहित्य मे 'यक्षान्दोल' का उल्लेख मिलता है।

साराश यह है कि निस्सन्देह यक्षगान का अतिप्राचीन एव गूढ इतिहास है। कन्नड देश मे श्रीमन्तों के सस्थापित देवालयो मे प्राचीनकाल से ही यक्ष गान मेड्ढु (कम्पिनी) रहते आए हैं। कुम्बडे मेड (मन्दिर) से लेकर गोकर्ण (उत्तर कन्नड) तक के देवालयो मे इस प्रकार के वेड (कम्पिनिया) पाए जाते हैं। कुम्बडे मेड्ढु, धर्मस्थल मेड्ढु एव मूलिके मेड्ढु प्रभृति अनेक मेड्ढु प्रसिद्ध थे। कतिपय मेड्ढु का तो नाममात्र अवशिष्ट रह गया है किन्तु कई मेड्ढु अभी सक्रिय रूप मे पाये जाते हैं। कतिपय प्राचीन मेड्ढु तो दुर्दशा मे पडे हैं किन्तु कतिपय नवीन मेडो का भी आविर्भाव हो गया है। प्राचीन पार्त्त सुव्व की तो वात अलग है, अर्वाचीन भागवतों मे जो कीर्त्तिशाली वन गए हैं उनमे से कैलासवासी मूलिके मंजुनाथ भागवत का नाम यक्षगान प्रपच से कभी विलुप्त नहीं हो सकता। "भव्य आकार और सुगठित शरीरवन्ध, रगस्थल पर वेशभूषा की एकरूपता के कारण वे आज भी हमारी आखो के सामने नाचते रहते हैं।"

दूर-दूर से आने वाले दर्शको के कानो मे उनका सुमधुर कठ स्वर जैसे अमृत उडेल देता था। मधुरनाद के अनुसार गमकस्तोम का उनके गीतो के तान को ऊँचे ले जाकर झूला की तरह झुलाना और उसे क्रमश' नीचे लाकर कलात्मक शैली मे अवसान करना कैसे भुलाया जा सकता है।

मंजुनाथ भागवत घड़ी की मन्द ध्वनि की तरह ताल लयानुसारी घंटा वाहन, दक्षिण हस्त में लटकती हुई लकड़ी का धारण, घंटा के साथ बायें हाथ को कान के समीप रखकर 'भामिनी'[1] पद्य का गायन करते हुए साक्षात् 'यक्षगान' के अवतार प्रतीत होते थे।

इनके पूर्व विट्ठल तथा कासरगोड[2] प्रान्तों में सकत्य भागवत, शम्भट्ट (शम्भुभट्ट) भागवत, नेरमपाडि नारायण भागवत आदि प्रसिद्ध व्यक्ति हो गए हैं। यद्यपि मैंने बाल्यकाल में नेरमपाडि नारायण भागवत के गीतों को खेल में सुना था तथापि उनकी आकृति की रूपरेखा मैं आज नहीं बना पाता। सकत्य भागवत तो पार्त्ति सुब्ब के समान यक्षगान प्रबन्धकर्त्ता प्रसिद्ध भागवत थे। पदार्त्ति[3] नारायण भी एक प्रसिद्ध भागवत थे। ये युवावस्था में ही स्वर्गवासी हो गए। सकत्य और पदार्त्ति नारायण दोनों तालस्वर के नियमन एवं पात्र-धारियों को अनुशासन में रखने के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध थे। उन्होंने अपनी विशिष्ट भागवत-पद्धति द्वारा यक्षगान के एक नवीन पथ का निर्माण किया। जिस प्रकार किसी रागोद्भव के समय किसी की तन्त्री ध्वस्त हो जाय उसी प्रकार नवीन सम्प्रदाय के निर्माणकाल में ही उनका स्वर्गवास हो गया। अतः उनका सम्प्रदाय भी अस्तव्यस्त हो गया। आज दक्षिण कन्नड़ में जीवन्त भागवत तो श्री बलिपनारायण भागवत जी हैं। वे भागवत जनों में सबसे अधिक सुशिक्षित एवं अनुभवशील हैं। इस सन्दर्भ में इनके गुरु कूडल सुब्बराय दयानु-भाग को स्मरण करना आवश्यक है। उन्हें उस काल का कलाविद् कहा जाता है। उनके पारिवारिक मन्दिर जो गोपालकृष्ण मन्दिर के आश्रय से कूडलुमेड नामक यक्षगान मेड आज भी विद्यमान हैं। श्री सुब्बराय जी गन्धर्वगान और यक्षगान दोनों में निपुण थे। कोई ऐसा वाद्य नहीं जिसे उन्होंने न बजाया हो। चित्रकला में भी वे सिद्धहस्त थे। उन्होंने दो-चार यक्षगान प्रबन्धों की भी रचना की थी। उन्होंने केवल अनेक बार ताड मड्ड (बैठक में) भागवत कार्य ही नहीं किया अपितु अपने मेड के दो खेलों में स्वयं सम्पूर्ण रात्रि भागवत कार्य भी किया है।

---

१ भामिनी, छन्द मात्रा वृत्त है। इस प्रकार के षट्पदी का एक भेद है। इसी छन्द में कन्नड भाषा में रामायण, भारत आदि प्राचीन ग्रन्थ लिखे गए हैं।

२ कासरगोड—यह भाग केरल में चला गया है।

३ पदार्त्ति—मन्दिर में नृत्य आदि करने वाले सेवक होते थे। जाति के शूद्र होते थे।
पार्त्ति—धार्मिक मन्दिर में जो आरती या [illegible] नृत्य करने, पूजा आदि की [illegible] करते हैं।

अपने युग मे इनकी इतनी प्रतिष्ठा थी कि एक वार मजुनाथ भागवत इनके घर आए। वे अति वृद्ध हो गए थे। उन्होने इनके गीतो का रसास्वादन करने के लिए इनसे ताड मद्दड (बैठक) मे भागवत पद ग्रहण करने का आग्रह किया और स्वय मृदग वजाने लगे। यद्यपि वे नए कलाविद् थे किन्तु उनके मधुर कठस्वर ने सवको मुग्ध वना दिया। और तभी से उनकी ख्याति और भी वढ गई।

दक्षिण करनाटक मे गण्यमान्य वेशधारी पडे तथा मृदग वजाने वाले अनेक थे। विदूपको मे कुम्वड़े नण्णप्प तथा स्त्री पात्रो मे कोक्करणे के गरणपति उच्च श्रेणी के माने जाते थे। रावण वलराम आदि वेषो मे कुम्वडे मालिंग (महालिंग) अति प्रसिद्ध थे। कर्ण वालि का अपरावतार जैसा 'उप्परहविक' का शेप माना जाता था। इतना विवरण कन्नड प्रदेश के मेडरव का दिग्दर्शन कराने के लिए आवश्यक समझा गया।

यक्षगान के अवान्तर भेद

उडपि के उत्तर में जो यक्षगान खेल होता है उसको वडगतिट्टु (उत्तर मार्ग) कहते हैं। उसके दक्षिण में होने वाला (तेंकतिट्टु) दक्षिण मार्ग कहलाता है। उन दोनों मार्गों की कवि पद्धतियो मे अन्तर है। अभिनय काल मे तो यह भेद स्पष्ट हो जाता है। उत्तरमार्ग का भागवत घटानाद नही करता, मजीरवादन करते हुए गाता है। दक्षिण मार्ग का भागवत घटा पर लकडी के लघु खड से आघात करता है और रस के अनुसार राग का आलाप करता है। उत्तर मार्ग के भागवत का मजीरवादन गीत के साथ समाप्त होता है। किन्तु दक्षिण मार्ग के भागवत का घटा नाद गीत की समाप्ति के उपरान्त भी तीन वार वजकर समाप्त होता है। उत्तर मार्ग मे भागवत के साथ तत्तवेशधारी भी गाता है। दूसरे मे केवल भागवत गाता है। दोनो मार्गो मे पात्रो के वेश (पोशाक) में भी अन्तर होता है। उत्तरमार्ग मे अभिनय पर अधिक वल दिया जाता है किन्तु दक्षिण मार्ग में नर्त्तन मे। उत्तरमार्ग मे पात्रो का (Make up)शृगार सामान्य होता है किन्तु दक्षिण मे अत्यन्त आकर्पक। अन्य अवान्तर भेद भी अनेक हैं।

भागवत के गायनकाल मे पात्र नृत्य अथवा अभिनय दिखाते हैं किन्तु गीत समाप्त होने पर भागवत के गीत का अर्थ सवाद रूप में स्पष्ट करते हैं। उत्तर मार्ग के वेशधारी गीत के अनुसार मनोरजक रीति से मर्यादा के अन्दर रहकर अर्थ करते हैं। दक्षिणात्यो की रीति यद्यपि मनोरजक है तथापि उदीच्य के सदृश उनमे उतना कौशल नही दृष्टिगोचर होता। आजकल ताडमद्दले की जो पद्धति

प्रचलित हो गई है उसमे हावभावो का सन्निवेश, वाग्वैदग्ध्यवाद, शैली आदि नवीन पद्धतियों से बैठक (ताड मद्दले) अत्यन्त मनोहारी प्रतीत होते हैं। अत आजकल स्वतन्त्र रूप से तथा उत्सवो के अवसर पर 'ताड मद्दले' की चाल पड गई है। अधुना गाँव एव नगर के प्रमुख व्यक्तियों ने भी 'ताड मद्दले' मे भाग लेना प्रारम्भ कर दिया है। यह कन्नड के लिए सौभाग्य की बात है।

वेशभूषा Costumes

जितना मुझे स्मरण आ रहा है उसका ही मैं उल्लेख कर रहा हूँ। वेशधारी जो वेशभूषा धारण करते हैं, उनमे कतिपय इस प्रकार हैं—

(अ) किरीट (वट्टलु किरीट) वृत्ताकार किरीट—यह अति विशाल एव वृत्ताकार होता है। दक्षिण कन्नड मे भूतो का नर्तन हरिजन करता है। नारियल के कोमल किसलय (कोपल) से बनाया हुआ मोर के फैले पख की आकृति का अरिए (प्राभावली—Halo) होता है जिसको पीठ के पीछे बाँध लेते हैं। यह अरिए से कुछ छोटा होता है। इस किरीट का दूसरा नाम 'केश वारि' भी है। इसे वडी पतली लकडी के फल (टुकडे) से निर्मित करके ऊपर अभ्रक के आवरण से जाज्वल्यमान वना दिया जाता है। उसे दशरथ धर्मराज आदि सम्राट् धारण करते हैं। इसी जाति के वहुत वडे-वडे किरीट रावण, महिरावण आदि राक्षस राजा धारण करते हैं।

(आ) पूम्बे किरीट—पूम्वे का अर्थ है केले का फूल। जो किरीट कदली पुष्प के आकार के होते हैं वे पूम्वे किरीट कहलाते हैं। केले के फूल के दल यदि खोल दिए जाएँ तो जैसी आकृति होगी वैसी आकृति इसकी होती है। ऊपरी भाग मे एक छिद्र होता है जिसमे मोरपख जोड देते हैं। इसे भी अभ्रक से परिवेष्टित कर देते हैं। राम, लक्ष्मण, अर्जुन, वलराम आदि युवराजो के लिए यह किरीट वनाया जाता है। भीमसेन भी इसे धारण करते हैं। अन्तर इतना होता है कि किरीट के दोनो पक्ष समानान्तर होते हैं।

(इ) राक्षसी किरीट—सूर्पणखा आदि राक्षसियो के लिए यह होता है। इसका आकार डब्बे के सदृश होता है। ऊपर चतुर्दिक मोरपख होते हैं।

(ई) हनुमन्त किरीट—यह किरीट छोटा शकु के आकार का होता है।

(उ) सिरीमुडी—(श्रीमौलि) वास्तव मे यह किरीट नही। यह एक प्रकार की पगडी है। लाल वस्त्र जरी के साथ लपेट लिया जाता है। तश्तरी के आकार मे इसे लपेटा जाता है। इसके पीछे मोरपख ऊपर निकलता हुआ दिखाना चाहिए। इसमे कई आकृतिया होती हैं। श्रीकृष्ण की श्रीमौलि पृथक्

होती है और अभिमन्यु, वृषकेतु, बभ्रुवाहन की श्रीमौलि भिन्न होती है। कीचक की इनसे भी भिन्न श्रीमौलि है। किरात की श्रीमौलि इन सबसे पृथक् है।

(ऊ) कर्णपात्र—किरीट से सयुक्त कान के समीप दोनो ओर कर्णाकृति के दो पख लगाए जाते हैं उन्हें कर्णपात्र कहते हैं।

(ए) केन्नेप्पू अथवा चेन्नप्पू—यह कर्णपात्र के ऊपर लगाया जाने वाला गण्डपुष्प एक आभरण है। प्राचीन काल मे शृगारी व्यक्ति कर्णावतस नाम से नीलोत्पल धारण करते थे। सम्भवत केन्नेप्पू वही कर्णावतम होगा।

(ऐ) मेत्ते (मृदु वस्त्र)—किरीट को मस्तक पर धारण करने के लिए वह मृदु वस्त्र से बाँधा जाता था अन्यथा स्पन्दन के कारण उसके गिरने का भय रहता है। मेत्ते का उपयोग कई प्रकार से होता है—(१) भूतकाल मे (२) उत्सव मूर्ति को सिर पर धारण करते समय पहले मेत्ते को पुजारी माथे पर चारो ओर बाँध लेता है।

(ओ) कोरडार (कठहार)—एक विशेष प्रकार का कठाभूपरण होता है।

(औ) सोगे (पखा)—मोर का पख—एक प्रकार का शाल होता है जो मोरपख के समान लम्बा होता है। कोरडार और सोगे इनमे से किमी एक का नाम 'उरजल्ली' रहा होगा क्योकि कन्नड जैन साहित्य मे उल्लेख है कि अप्सराएँ नर्त्तन के समय 'उरचल्ली' धारण करती थीं। सम्भवत उरजल्ली और उरचल्ली एक ही शब्द हो।

(अ) भुजकीर्त्ति (केयूर)—यह बाहुमूल पर धारण किया जाता है। राक्षसो और देवताओ के केयूर मे अन्तर होता है।

(अ) हस्तकट्टु—मरिगबन्ध प्रभृति हाथ के भागो मे पहने जाने वाले आभूपरण हस्तकट्टु कहलाते हैं।

(क) बगले (उरस्त्र)—एक वृत्ताकार पदार्थ उर पर धारण करते हैं,इसे वर्म समझना चाहिए। इसे पीठ के पीछे बाँध लेते हैं।

(ख) जॅगु-चॅगु-जॅगेज्जें— (गज्जे का अर्थ है घूंघरू) राक्षस और राजा घुटनो से नीचे घूघरू सयुक्त एक प्रकार की पट्टी पैर पर धारण करते थे।

(ग) मुन्दले बुद्दु—मुन्दले (मस्तक) बुद्दु (गोल)—सीमन्तमरिग

सीमन्त
|
मरिग

यह आभूपरण केवल स्त्री वेश के लिए है। इमी आभूपरण को दो-एक पीढी

तक कुलीन नागरिक स्त्रियाँ धारण करती रही। इसका दूसरा नाम सीमन्त-मणि या सीमन्तरत्न है। सीमन्त सस्कार गर्भाधान के ६ठें महीने मे गर्भवती स्त्री के केश के दो विभाग के द्वारा सम्पन्न होता है। धर्मशास्त्र तथा शरीर-विज्ञान के अनुसार उसी महीने मे भ्रूण के कपाल के दो विभाग परस्पर सलग्न होते हैं। गर्भिणी स्त्री इसी समय सर्वप्रथम केशविन्यास के लिए सीमन्त धारण करती थी, और इस सस्कार के उपरान्त वह सदा सीमन्त का सम्भार करती थी और तीन विभागो से युक्त इस कार्तिकेय के प्रसाद को श्वश्रू या माता गर्भवती नारी को धारण कराती थी। इसी मुन्दले बट्टु आभरण से युक्त युवती का वर्णन कवियो ने नागवेणी कह कर किया है। नाग के समान मणि धारण करने से ही उनका यह नाम पडा। दक्षिण मे यह प्रथा है कि पार्वती नाग-कन्या रूप से जन्म लेकर कुमारी नाम ने अभिहित हुई और कालान्तर मे शिवजी की सह-धर्मिणी बन गई। उसके नाम से ही कन्याकुमारी क्षेत्र दक्षिण में प्रसिद्ध हो गया। उस नाग कुमारी मे शिवजी का पुत्र कार्तिकेय जिस नाग स्वरूप मे पैदा हुआ उसका नाम सुब्रह्मण्य या 'कार्तिकेय' रखा गया। दक्षिण कन्नड मे जो सुप्रसिद्ध सुब्रह्मण्य क्षेत्र है, वहाँ यद्यपि साँप बहुत हैं तथापि वहाँ उनसे किसी को किसी प्रकार का भय नही। यहाँ मूल सुब्रह्मण्य की पूजा वल्मीक मे होती है।

इस पार्वती का वर्णन सभा लक्षण मे इस प्रकार आता है (अ)[1] इसमे

---

१ सुब्रह्मण्य क्षेत्र में लोगों ने इष्टार्थसिद्धि के लिए जो प्रार्थना की है, वे मदिर प्राकार के अन्दर उत्सव काल में भूमि पर लुढकते हैं। कई आदमी इस मदिर से लुढकते हुए जाते हैं। कई सज्जन ब्राह्मण भोजन के उपरात पत्तलों पर लुढकते हैं, इसका अर्थ यह है कि सुब्रह्मण्य (कार्तिकेय) साप रूप में तारकासुर से युद्ध करता रहा। जब-जब उस असुर ने नागधारी कार्तिकेय के शरीर के दो खण्ड कर दिए तब-तब ये दोनों खण्ड लुढकते हुए इस तीर्थ में डूबकर एक बन पुन राक्षस मे युद्ध करते थे।

(अ) (राग-शङ्कराभरण-ताल-त्रिपुट)

शरणु तिरुवग्रशालि वाहिनि। शरणु श्यामलरूपिणि ॥
शरणु शङ्करि गौरि पार्वति। शरणु पोरेयेन्न पूरिणी ॥ शरणु शरणु ॥१॥
चँद्रवन्ने सुन्दरि परा। शक्ति देवि सुमङ्गले।
मन्त्ररूपिणि कनकभूषिणि। नारि नीरज धारिणी ॥ शरणु शरणु ॥२॥
सिंहवाहिनि महिषमर्दिनि। द्वरडि पणिकारिणी।
पङ्कजाक्षी अखिलजनपरि। पालिनी गुणशीलिनी ॥ शरणु शरणु ॥३॥
लोकनायकि एक रूपिणि। ओदु ओङ्कार देहिनि।
नागराजकुमारि भैरवि। शालिनी अन्नपूरिणी ॥ शरणु शरणु ॥४॥

पार्वती जी का ही नाम नाग राजकुमारी मिलता है । अस्तु इस सीमान्तरत्न को हमारे प्रान्त—जो पहले नाग-लोक (दक्षिण देश) कहलाता था—की युवतियाँ पहनती रही होगी ।

(घ) चौकी (नेपथ्य)—नेपथ्य का दूसरा नाम चौकी भी है जिस पर खडे या बैठकर परिवान धारण करते हैं ।

(च) रंगस्थल—नाटक मे जो रग कहलाता है उसे यहाँ रगस्थल कहते हैं । सभा लक्षण में इसके तथा सभासदो के लक्षण स्पष्ट किए गए है ।

पार्त्ति सुब्ब तो केवल आधुनिक यक्षगान कवि और भागवत न था वह तो उस कला-प्रपच मे एक ध्रुव तारा के समान था । वह अनेक यक्षगान मेडो को एकत्रित कर वर्ष मे ६ महीने तक स्थान-स्थान पर भ्रमण करता हुआ कर्नाटक के विविध भागो मे यक्षगान का अभिनय कराता था । उन्होंने केवल उदर-पूर्ति के लिए भागवत-वृत्ति का अवलम्बन नही लिया, प्रत्युत वह कन्नो-पुरेश्वर (गोपाल कृष्ण) को अपनी हृदयारति से नीराजन करने वाला भक्त था । खेल या नाड-पगरण ही उसकी मनोवाछित वृत्ति थी । उसका जीवन भी उसी ससार मे विचरण करता हुआ समाप्त हुआ । अतएव उसके जीवन-परिचय की पृष्ठ-भूमि मे मेड तथा मेडत्व का स्वरूप-निरूपण आवश्यक था ।

कन्नड यक्षगान प्रपच में यह लघु प्रवन्ध केवल सामान्य परिचय दे सकता है । उसके सागोपाग परिचय के लिए उत्साही विद्वानों को अखड कर्नाटक मे स्थान-स्थान पर पर्यटन करके प्राचीन लोगो के मुख से इस नाड पगरण का संग्रह करना चाहिए । दक्षिण कन्नड, उत्तर कन्नड तथा मैसूर के सागर प्रात मे यक्षगान कवि बहुत सख्या मे विद्यमान थे । मैंने बाल्यकाल मे सुना था कि इन लोगो मे प्राचीन काल मे अनेक मेड थे । यदि विवेकपूर्वक इस समूचे साहित्य का सग्रह किया जाय तो कन्नड साहित्य की बहुत ही अभिवृद्धि हो सके । इनमे उत्तम प्रवन्धो को मुद्रित कराने की व्यवस्था होनी चाहिए । पार्त्त सुब्ब के रामायण प्रवन्ध (यक्षगान के लिए) भी अभी तक नही प्रकाशित हुए । जो प्रकाशित भी हुए हैं उनमे अनेक अशुद्धियाँ पाई जाती है ।

सभा लक्षण की भी एक परम्परा रही है जो अभी तक प्रकाश मे नहीं आई है ।

कन्नड मे विरचित 'रामायण प्रसग' एक प्रसिद्ध यक्षगान नाटक माना जाता है । उसके अन्तर्गत जिन प्रमुख घटनाओं का उल्लेख किया गया है उसका परिचय निम्नलिखित प्रसगो के द्वारा हो सकता है—

रामायण-प्रसंग

१ पट्टाभिषेक
२ पचवटी
३ वालि सहार
४. उगुरसन्धि (चूडामणि)
५ सेतु-बन्धन
६ अगद-सवान
७ कुम्भकरण-काडेग (युद्ध)
८ इन्द्रजितु-काडेग
९ रावणनवधे

पट्टाभिषेक

सुब्ब की कविता ललित पदबद्ध है। उसमे किसी प्रकार की क्लिष्टता नही दृष्टिगोचर होती। कतिपय कवि अनुप्रास के लोभ मे क्लिष्ट एव अनुचित पदो का प्रयोग करते हैं किन्तु सुब्ब के पद इस दोष से सर्वथा मुक्त हैं। रामकृष्ण आदि देवताओ का भक्त होने से उसने ईश्वरभक्ति के पद लिखे हैं। मानव प्रशसा मे उन्होंने अपनी शक्ति का अपव्यय नही किया। उसकी कला मे विवेक शक्ति का पूरा परिचय मिलता है। यद्यपि दारिद्र्य की ज्वाला ने उसके शरीर को शुष्क कर डाला था। तथापि उसका अन्त करण सरस था और उसमे समदर्शिता कूट-कूटकर भरी थी। अत कविता-नर्त्तकी उसकी इच्छानुसार अपना नर्त्तन उसकी जिह्वा पर खडे होकर दिखाती। उनके ग्रन्थ मे अन्य कवियो के समान रसास्वादन के लिए विविध प्रयास नही करना पडता। कतिपय कवि ऐसे हैं जिनकी रचना का पदच्छेद करके अन्वय द्वारा अर्थ निकालना पडता है। तदुपरान्त उसका तात्पर्य समझने पर रसास्वादन की स्थिति आती है किन्तु पार्त्ति सुब्ब की रचना पढते ही पाठक को उसी प्रकार रस-निमग्न कर देती है, जिस प्रकार परिपक्व द्राक्षाफल को मुख मे डालते ही उसका रस सद्य मिलने लगता है।

मिथिला नगर से स्वयवर के उपरान्त राजा दशरथ वधुओ, बन्धुओ और राम-लक्ष्मण आदि के साथ अयोध्या लौट आए। पत्तन नगर ग्राम सर्वत्र आनन्द-मय वातावरण का बन गया था। एक दिन वृद्ध राजा ने वशिष्ठ के साथ मत्रणा करके

श्रीराम को युवराजपद देने का निश्चय किया। देश मे इस वार्त्ता से सर्वत्र आनन्द छा गया। तदुपरान्त मन्थरा के कुटिल उपदेश के कारण कैकेयी दशरथ के दरबार मे उपस्थित होती है और राजा को अपने पूर्व प्राप्त वरो की स्मृति दिलाती है। उसने प्रथम वर यह मागा कि राम को १४ वर्ष का वनवास मिले और भरत को राज्य प्राप्त हो। इसे सुनकर राजा के हृदय पर वज्रपात सा हो गया। यह सन्देश पाकर सारा नगर दु ख-निमग्न हो गया। पट्टाभिषेक वार्त्ता से राम को न तो प्रसन्नता हुई थी और न इस शोक वार्त्ता से उद्वेग। किन्तु दु ख-सागर मे निमग्ना अपनी माता के समीप जाकर राम यह आश्वासन देता है।

पुण्यपुरुष ने अश्रु-समुद्र मे डूबी अपनी माता को देखा। यह केवल अतिशयोक्ति नही किन्तु वे मा-वाप के वचन के विरुद्ध कोप करना अच्छा न समझते। राम ने कहा, मा, यह जगत का नियम है कि दिन के उपरान्त रात आती है और रात के उपरान्त दिन। क्या आप इस नियम से अवगत नही। दुख से सुख को उत्पादन करना चाहिए। जानकी और लक्ष्मण छोटे होने के कारण अभी अबोध हैं। हे माता, तुम उनको आश्वस्त करो। मेरे वियोग से जो वेदना होगी, उसे निवारण करो। जिसने स्वयवर मडप मे मेरे उत्तरीय को पकडा वह माता-पिता से पृथक् सीता यह वार्त्ता सुनकर कितना उद्विग्न होगी मैं कह नही सकता।

"बहुउक्तेनकिम्। पिता की वृद्धावस्था है, लक्ष्मण बालक, सीता अबोध बालिका है अत तुम्हारे ही ऊपर सबके सरक्षण का भार है। तुम तो दुख के सागर मे कदापि निमग्न न होना। सुब्ब के मुख से जो वचन आविर्भूत होते हैं वे सन्दर्भ के अनुसार शुद्ध कन्नड के वचन है। वे अलकृत होते हुए भी अकृत्रिम हैं अत सरल और सुबोध हैं। जैसे प्राचीन काल मे महिलाओ के अलकार बोझिल होते उसी प्रकार कई प्रबन्धो मे अलकार भार बनकर काव्यचेतना को मूर्च्छित बना देते हैं।

पार्त्ति सुब्ब की उपमाएँ नित्यप्रति व्यवहृत पदार्थो जैसे गृहीत है। जैसे एक स्थान पर राम कहते हैं जिस प्रकार प्रस्तुत भोजन सामग्री का उपभोग न करके सन्तप्त होना मूढता है—उसी प्रकार विचार के बिना दुखी होना मूर्खता है।

दूसरे पद से भी सुब्ब की तात्त्विक मनोवृत्ति प्रगट होती है। तीसरे पद की रचना के समय सुब्ब का हृदय कितना द्रवीभूत हुआ होगा। माता-पिता का सुख त्याग कर अयोध्या मे निवास करने वाली बालिका सीता की दशा का वर्णन

कितना हृदय-विदारक है।

कैकेयी का प्रथम वर था कि केवल राम को वनवास मिले। किन्तु अन्त मे सीता और लक्ष्मण ने भी राम का अनुसरण किया। पूर्व भावना के अनुसार राम ने माता से लक्ष्मण और सीता के सरक्षण का अनुरोध किया। राम, सीता एव लक्ष्मण अपने वस्त्राभरण कैकेयी को प्रदान करते हैं और उससे वल्कल वस्त्र लेकर स्वय धारण करते है। रामचन्द्र नगरवासियो को अपने प्रयाण की घटना सुनाकर सबको सान्त्वना देते हैं। तदुपरान्त राजवीथी पर चलने का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

राग केदार गौड़ अठताल

(१)

आए हैं राम लक्ष्मण आए हैं।
हाथी का वृन्द रथ और घोडे उनके पीछे आ रहे हैं।
वे एक वीथी के उपरान्त दूसरी वीथी पार करते जा रहे है।
वे अपने देश और घर-बार भाई-बन्धु की ममता त्याग दर्शको की आखो से
अश्रुधारा बहाते हुए आए हैं
राम-लक्ष्मण आए हैं।

(२)

अपनी कुल-मर्यादा वृद्धजनो के मन मे स्थापित कर,
अपने उद्देश्य मे ध्यान रख ससार को आदर्श दिखाते हुए,
ससार को आदर्श रूप मे ऊपर पक्ति दिखाते हुए
एक नई पद्धति या पथ को ढूंढते हुए,
आए हैं, राम लक्ष्मण आए हैं।

उपर्युक्त पाठ मे कवि दर्शको के शोकाभिभूत मनोभावो को सगीत के द्वारा प्रगट करना चाहता है। राम वनगमन के समय पौरजन एव सैनिक आदि कितने उद्विग्न हैं इसको अभिव्यक्त करने के लिए कवि ने वार्त्तालाप का सहारा न लेकर काव्य को माध्यम बनाया है।

सम्पूर्ण पौरजनो के अश्रु-प्रवाह को देखते हुए भी श्रीराम, सीता और लक्ष्मण दृढ चित्त रहकर अपने धैर्य एव उदात्त चरित्र का परिचय दे रहे थे। इसमे एक अर्थ और ध्वनित होता है। राम, सीता और लक्ष्मण अपनी समस्त आशाओ का दान करने के लिए सकल्पजल के रूप मे दर्शको का अश्रुजल प्राप्त कर रहे हैं।

पार्त्ति सुब्ब कहते हैं कि वे एक नए पथ के अनुसन्धान मे जा रहे हैं। ठीक इसी प्रकार का वर्णन हम कालिदास के रघुवश में पाते हैं।

"वे तीनो वन मे चले गए। नगरनिवासी शोकाभिभूत हो गए। तदुपरान्त राजा दशरथ भी परलोकवासी बन गए। इस घटना ने घाव पर तप्त तैल उंडेल दिया। रानियो के विलाप का क्या कहना!" ऐसी स्थिति मे सबको सान्त्वना देने वाले गुरु वशिष्ठ के वचन सुनिए—

"बच्चो सुनो, शोक मे इतना विलाप करने से क्या लाभ। तुम्हारा क्रन्दन सुनकर लोग अपने मन मे क्या सोचेंगे? क्या यह अधीरता रानियो के उपयुक्त है?

क्या तुम्हारा क्रन्दन तुम्हारे भाग्य-लेख को अन्यथा कर सकेगा? जो विधाता तुम्हारे कर्म को तुला पर रखकर भाग्य निर्णय करता है क्या उस पर इस रोदन का कुछ प्रभाव पड़ सकता है?

(३)

झझावात, मेघगर्जन एव वर्षण को क्या कोई हाथ ऊँचे उठाकर रोक सकता है?

क्या यमराज के दूत तुम्हारी इस प्रार्थना को सुनकर कि यहाँ हमारे राजकुमार नहीं है महाराज के प्राणो को मुक्त कर देंगे? यह ससार शाश्वत नही। वर्षा मे आवर्त्तयुक्त नदी के प्रवाह का फेन यदि हम पर हँसे तो क्या हमारा विवेक वैशाख मे निरर्थक होगा।"

उपर्युक्त तीन स्थलो मे उद्धृत पद्यो मे कितना अर्थ गाम्भीर्य है किन्तु ये पद कितने सरल एव सुबोध हैं। पार्त्ति सुब्ब की यह एक बडी विशेषता रही है कि वे गम्भीर अर्थ को काव्य मे ध्वनित कर देते हैं। श्रेष्ठ काव्य की यही विशेषता है।

आन्ध्र के यक्षगान

देश के अन्य भागो के समान आन्ध्र मे भी पुत्तलिका नृत्य का चिरकाल से प्रचलन रहा है। तेलुगु भाषा मे पुत्तलिका नृत्य को 'बोम्मलाटा' कहते हैं। पुत्तलिका नृत्य दो प्रकार का होता है—कठपुतली का नाच और चर्म पुत्तलिका नृत्य। आन्ध्र राज्य मे चर्म-पुत्तलिका नृत्य का ही अधिक प्रचार है। कुछ विद्वानो का मत है कि आन्ध्र देश से ही जावा आदि द्वीपो में पुत्तलिका-नृत्य की पद्धति का प्रवेश[1] हुआ। जावा-वासी इस खेल को वायग कहते हैं। जावा

१ आन्ध्र दर्शिनी १९५४ ई०, पृ० ७८०

मे सन् १००० ई० मे महाभारत की कथाओ का वायग के आधार पर अभिनय दिखाया जाता था।[1]

इतिहास इस बात का साक्षी है कि आन्ध्र के सुप्रसिद्ध शैव कवि पालकुरि के सोमनाथ के समय (११७०-१२२० ई०) पुत्तलिका नृत्य का ग्राम-ग्राम प्रचार हो गया था। सोमनाथ कृत 'पडिताराध्यचरित' के पर्वत प्रकरण मे इस प्रकार उल्लेख मिलता है।

अर्थात् कोई पर्दे के आवरण मे पुत्तलिकाओ के द्वारा महाभारत की कथाओ को प्रदर्शित करता है तो कोई छकडी के सूत्रो को अद्भुत रीति से घटाते-बढाते पुत्तलियो को नचाता[2] है।

इन खेलो को प्रदर्शित करने वाले नटो की भाषा आन्ध्र देश मे मराठी पाई जाती है। प्रदर्शन के कथानक मुख्य रूप से लका-दहन, रावण-वध तथा महाभारत की कथाएँ होती हैं। तेरहवी शताब्दी के प्रसिद्ध कवि रगनाथ विरचित रगनाथ रामायण के आधार पर ही कई खेलो की रचना दिखाई पडती है। पर्दे पर पुतलियाँ नचाई जाती है और नेपथ्य मे मधुर कण्ठ से अभिनेताओं का गायन सुनाई पडता है। अभिनय मे भाग लेने वाले स्त्री-पुरुष दोनो होते हैं। खेल के बीच-बीच मे विदूषक और उसकी प्रेयसी का हास्यमय वार्तालाप भी होता रहता है। कुछ विद्वानो का मत है कि प्रारम्भ मे पुत्तलिकाओ का मूक नृत्य होता था। पर जब दर्शको को इससे तृप्ति नही हुई तो उन्होंने नृत्य के साथ-साथ गीतो के नियोजन की माँग की। उस समय जन-प्रचलित यक्षज्ञान साहित्य से सहायता लेकर पुत्तलिका नृत्य के सचालको ने दर्शको की माँग पूर्ण की। इस प्रकार यक्षगान साहित्य का इस नाट्य-विधान में समावेश हुआ[3]। पुत्तलिका नृत्य की यक्षगान सयुक्त यह नवीन पद्धति समाज मे परमप्रिय सिद्ध हुई। अत पुत्तलिका नृत्य और यक्षगान दोनो का युगपत् विकास होने लगा। यक्षगान के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थो मे 'बोम्बलाटा' अर्थात् पुत्तलिका नृत्य के पात्रों के चित्र भी छपे मिलते हैं। पुत्तलिका नृत्य और यक्षगान के नाट्य-शिल्प मे भी प्राय साम्य दिखाई पडता है। दोनो मे मगलगीत के गायन से खेल प्रारम्भ होता है। तदुपरान्त विघ्नेश्वर गणेश की पूजा और प्रार्थना होती है। सभा का प्रशसात्मक वर्णन मिलता है। इस

---

१. The Mahabharta and the Vayang in Jawa by Dr B R. Chaterji.

२ पडिताराध्य चरित्र—लेखक पालकुरिकि सोमनाथुडु, पर्वत प्रकरण, पृष्ठ ४३५

३ हिन्दी और तेलुगु का नाटक साहित्य—ऑमिस पाडुरगराव

प्रकार दोनो का पूर्वरंग एक समान है। दोनो मे नेपथ्य से हास्य की आयोजना होती है और तदुपरान्त कथा का प्रारम्भ होता है।

उत्तर भारत का स्वांग नाटक 'वोम्वलाटा' के अधिक समीप है। 'वोम्वलाटा' मे जहां नृत्य की प्रधानता है और यक्षगान मे गान की, वहाँ स्वांग[1] मे नृत्य और गान दोनो पर समान वल दिया जाता है।

कुरवंजी

वेटूर प्रभाकर शास्त्री का कथन है कि आन्ध्र मे यक्षगान के पूर्व ही कुरवजी नामक एक नृत्य भली प्रकार प्रचलित हो गया था। यक्षगान उसी नृत्य का विकसित रूप है अर्थात् जिस प्रकार रासलीला (रासक) रास नृत्य से विकसित होते-होते उपरूपक की कोटि मे परिगणित होने लगा उसी प्रकार कुरवजी नृत्य का विकसित रूप यक्षगान नामक नाटक मे दिखाई पडा। श्री नेलटूरी वेंकट रमणैया इस मत से सहमत नहीं। उनका कथन है कि कुरवजी नृत्य इतना विकसित और लोकप्रिय हुआ कि यक्षगान के सचालको ने अपने खेलो मे उसको स्थान देना अनिवार्य समझा[2]। एक सम्भावना और भी है कि दोनों नाट्य-विधाए पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप मे विकसित हुई हो और परोक्ष रूप से एक दूसरे से प्रभावित भी होती रही हो।

लीला नाटक, यक्षगान और कलाप

श्रीमद्भागवत मे रासलीला का वर्णन विस्तार के साथ मिलता है। गोपियो के मध्य मुरलीवादन करते हुए देवकीनन्दन मण्डलाकार नृत्य मे भाग लेते हैं। वृन्दावन की इस क्रीडा का महत्व उत्तर भारत मे सर्वत्र व्याप्त है। दक्षिण भारत मे भी आन्ध्र जनता इसी प्रकार की रास-क्रीडा के द्वारा भगवत्प्राप्ति का प्रयास शताब्दियो से करती आ रही है। जिस प्रकार उत्तर भारत में सूरदास, नन्ददास, परमानन्ददास, चाचा वृन्दावनदास, हरिदास, स्वामी हितहरिवश आदि की रचनाओ के आधार पर लीलानाटक नियोजित होते हैं उसी प्रकार दक्षिण भारत मे यतिवरनारायणतीर्थ विरचित गीतों का प्रयोग रासलीला मे होता है। नारायणतीर्थ धुरन्धर विद्वान्, प्रसिद्ध गायक, एक-निष्ठ भक्त और भावुक महात्मा थे। उन्होंने आन्ध्र राज्य मे कृष्ण-लीला का प्रचार मनोयोगपूर्वक किया। उनकी लीला पद्धति आज भी आन्ध्र देश के भक्तजनो मे मान्य है और उसका प्रचार सर्वत्र पाया जाता है। दूसरे महात्मा गुटूर जिले के अन्तर्गत निडुमनूर

---

१ स्वाग के सम्बन्ध में पृथक् अध्याय में विस्तार के साथ लिखा गया है

२ आन्ध्र पत्रिका-पटवार्षिकाग, पृष्ठ १७-१८

अनेक रचनाओ ने यक्षगान साहित्य को प्रौढता प्रदान की। नवीनता का समावेश भी इस काल की कृतियो मे होने लगा। पुरुषोत्तम दीक्षित, कोनेटि दीक्षित, रगाजम्मा, वेकटपति सोमयाजी और मन्नार देव आदि इस काल के प्रमुख यक्षगान लेखक हैं।

इसके उपरान्त मराठी राजाओ ने भी यक्षगान साहित्य की सृष्टि मे योगदान एव प्रोत्साहन दिया। इनमे 'एकोजी' के पुत्र शहाजी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। विजयराघवरायलु की भाति इन्होंने भी अनेक यक्षगानो की स्वय रचना की तथा लेखको व आश्रित व्यक्तियों को लिखने को प्रोत्साहित किया। 'गगा पार्वती सवाद' 'पार्वती परिणय' 'द्रौपदी कल्याण, 'सीता कल्याण,' 'रती कल्याण,' 'किरात विजय' आदि कृतियाँ शहाजी के प्रमुख यक्षगानो मे से हैं। इस युग के अन्य प्रमुख यक्षगान लेखको मे तिरुमल, तुलजराज, एकोजी शवरधर, ओवयमत्री तथा गिरिराज, वालकवि सुवन्ना और शेषाचलपति आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन कवियो के यक्षगानो मे यद्यपि प्रधानता पौराणिक कथानको की है तथापि राजाओ के यशवर्णन, प्रणय-गाथाओ तथा धार्मिक विषयो आदि का समावेश भी उनमे उपलब्ध होता है।

यक्षगान की रचना में स्त्रियो का योग

यक्षगान की उन्नति एव उसकी प्रौढता मे कवियों के साथ-साथ कवयित्रियो का भी विशेष योगदान रहा है। यक्षगान मे गायन की भावना प्रमुख है और यह तो स्पष्ट है कि इस क्षेत्र मे जितनी सफलता नारी को मिल सकी है उतनी पुरुषो को नही। अत यक्षगान काव्य-धारा की समृद्धि मे पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो की ही अधिक महत्ता स्वीकार करनी पडेगी।

इस सम्बन्ध मे प्रथम कवयित्री १६वी शताब्दी मे 'वालपापावा' हुई जिनकी कीर्ति का कारण अक्कमहादेवी चरित्र रचना है। फिर १७वी शती मे रगाजम्मा नामक दूसरी प्रमुख कवयित्री विजयराघव के दरवार मे हुई। इनकी काव्य निपुणता, भाषा वैदग्ध्य तथा राजनैतिक धुरन्धरता विद्वानो मे प्रसिद्ध रही है। 'मन्नारुदास विलासमु' इनकी महत्त्वपूर्ण कृति है।

इनके उपरान्त १८वीं शताब्दी मे 'यक्षगान-रामायण' की लेखिका 'अन्नदानम् वेंकमावा' तथा १६वी शताब्दी मे 'तरिगोंड वेंकमावा' का नाम आता है।' तरिगोंड वेंकमावा' के यक्षगान का साहित्य मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका रचित १५ कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं जिनमे 'कृष्णनाटक' 'चेंचुनाटक' 'शिवविलास'

'पारिजातापहरण' आदि मुख्य हैं।

इन प्रमुख कवयित्रियो के अतिरिक्त कतिपय अन्य अज्ञात नामा लेखिकाओ ने भी यक्षगान की रचना मे भाग लिया है जिनमे श्री रामपुत्री (सीमतिनी चरित्रमु) सूर्यनारायण शास्त्री की पुत्री (शुकचरित्र) तथा एनुगुल चूडम्मा (रुक्मिणी कल्याण) मुख्य हैं। ये कवयित्रियाँ १९वी शताब्दी के उत्तरार्घ मे हुई। इस २०वी शताब्दी मे शेषाँवा, मुडुवँ मगतायार तथा रामानुजम्मा की रचनाएँ यक्षगान साहित्य मे विशेष स्थान प्राप्त कर चुकी हैं।

निष्कर्ष यह कि कवियो तथा कवयित्रियो के सम्मिलित उद्योग के द्वारा यक्षगान साहित्य की पर्याप्त उन्नति हुई, जनता मे उसका प्रचार हुआ, लोकप्रियता प्राप्त हुई, नृत्य वादन तथा गायन आदि कलाओ का भी विकास हुआ।



तारकासुर वध नामक यक्षगान नाटक का एक दृश्य



यक्षगान मे पात्रो के साथ भागवत



'बाँगरू भूमि' नामक यक्षगान नाटक का एक दृश्य



महाभारत की घटना विशेष पर आधृत यक्षगान नाटक का एक दृश्य





कीचक नामक यक्षगान नाटक का एक दृश्य—कीचक और द्रौपदी





दक्षिण भारत मे हरिकथा का एक दृश्य



प्रसिद्ध भागवतकार
स्वर्गीय श्री हरिकृष्णाटट्टूर अभिनय वेश मे



यक्षगान मे कीचक